पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला का चतुर्थ पुष्प

साधना के सूत्र

सामायिक, प्रतिक्रमण, वैराग्यभावना,
जैन आचार-विधि,
ध्यानसूत्र शतक आदि
का उपयोगी संकलन

सम्पादन एवं संकलन
अशोककुमार जैन 'गोइल्ल'
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम ए.
दिल्ली

प्रकाशक
वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
डॉ नन्दलाल मार्ग, पुरानी मण्डी,
अजमेर-305 001

प्रकाशकीय

'साधना के सूत्र' नवीन कृति स्वाध्याय प्रेमियों के लिए आचार्य शिरोमणि कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दि वर्ष में एवं श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के ऐतिहासिक व भव्य पंचकल्याणक के अवसर पर पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित करते हुए वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर के सदस्यगणों को अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

विद्वद्वर्य पण्डित सदासुखदासजी कासलीवाल की अन्तिम कर्मस्थली प्रसिद्ध ऐतिहासिक जैन नगरी अजमेर के मूल निवासी अध्यात्मरसिक सेठ श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया के हृदय में बहुत समय से यह अभिलाषा थी कि भारतवर्ष के कोने-कोने में विशेषतया अजमेर व उसके आस-पास के क्षेत्रों में जैन तत्त्व का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हो, जिससे सभी प्राणी वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सुखी हो सकें—इस पवित्र भावना को लेकर उन्होने १६ अप्रैल, १९८५ को अजमेर स्थित 'बाल भवन' नामक अपनी अचल सम्पत्ति 'वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, अजमेर' के नाम परिवर्तित कर दी।

साथ ही जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु आपने 'पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला' की स्थापना करके सत्साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में एक और महान कदम उठाया। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'मृत्यु-महोत्सव', 'सहज सुख-साधन' एवं 'बारह भावना शतक' आदि कृतियों का प्रकाशन अभी तक हो चुका है।

प्रस्तुत कृति नित्य स्वाध्यायप्रेमियों के लक्ष्य से पं अशोक कुमार जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, दिल्ली ने तैयार की है। अधिकांश रूप से यह देखा गया है कि साधर्मी भाई-बहिन स्वाध्याय की गतिविधियों से जुड़े रहने के पश्चात् भी जीवन में वास्तविक अपूर्व आत्मलाभ से अछूते बने रहते हैं। स्वाध्याय (तत्त्वचर्चा) आत्मलाभ की दिशा में महत्वपूर्ण एवं आवश्यक आरम्भिक सीढ़ी है, परन्तु यही पर्याप्त नहीं है। चर्चा, जो चर्या में न आवे तो, व्यक्ति की ऐसी अर्जित चर्चा कभी-कभी उपहास की विषय-वस्तु भी बन जाती है। अत स्वाध्याय प्रेमियों का कर्त्तव्य है कि उनकी तत्त्वचर्चा उपहास का निमित्त न बने, इसके लिए आवश्यक है उनका आचार-विचार भूमिकानुसार जिनवाणी के अनुरूप हो। यद्यपि तत्त्वचर्चा के साधन आत्मसाधना के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार करते हैं परन्तु तत्त्वचर्चा की गौरव-गरिमा एवं सुरक्षा उसके प्रयोगात्मक रूप देने में है। भूमिकानुसार आचरण के बिना मात्र तत्त्वचर्चा का जैनदर्शन में कोई महत्त्व नहीं है।

जैन मार्ग, साधना का मार्ग है। सच्ची साधना सामायिक, समाधि-मरण एवं वैराग्यप्रेरक बारह भावनाओं के चिन्तन-मनन के बिना नहीं है। इन्हीं बातों का लक्ष्य करते हुए प्रस्तुत कृति 'साधना के सामायिक और उसकी विधि, सर्वसामान्य प्रतिक्रमण, समाधि-मरण, जैन आचार-आहार विधि एवं परिशिष्ट में नित्य मननीय महत्त्वपूर्ण एवं सामग्री का संकलन किया गया है। जीवन के अन्तिम समय में तो उपयोगी है ही, परन्तु जीवन के आरम्भिक शुद्धिकरण के लिए भी है।

इस कृति के प्रकाशन में अध्यात्मरसिक सेठ श्री माणकचन्दजी दिल्ली की मुख्य प्रेरणा एवं सहयोग रहा है। श्री लुहाडियाजी का - उनके बडे भाई श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया के अनुरूप है। धर्म प्रचार की तीव्र उत्कण्ठा उनके हृदय में बनी रहती है। उन्हीं की भावना स्वाध्याय प्रेमियों के लिए ऐसी पुस्तक का प्रकाशन का हो, जिससे उनका सुगन्धित हो उठे, क्योंकि 'ज्ञान का फल सद्चारित्र रूप से परिणमन है। अत उनकी पवित्र भावना के फलस्वरूप ही यह कृति आप सामने है।

इस कृति के संकलन एवं सम्पादन में प श्री अशोक कुमार जैन दिल्ली ने जो स्तुत्य श्रम किया है, उनके हम कृतज्ञ हैं। श्री माणकचन्द दिल्ली ने इस कृति के प्रकाशन का सम्पूर्ण आर्थिक भार ही नहीं उठाया, लागत मूल्य से कम में पुस्तक उपलब्ध कराई है, एतदर्थ ट्रस्ट उनका आभारी है।

इस कृति के सुन्दर प्रकाशन में श्री अखिल बंसल, बाहुबली जयपुर, श्री अरूणकुमार जैन शास्त्री, जयपुर आदि ने जो सहयोग प्रदान उनके हम आभारी हैं।

आशा है, सभी स्वाध्याय प्रेमी इस कृति का नित्य स्वाध्याय कर लाभ उठावेंगे।

मंत्री,
वीतराग-विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर
अजमेर (राजस्थान)

सम्पादकीय

जैनदर्शन; साधना का दर्शन है। साधना का साध्य है मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण। स्वभाव की आराधना पूर्वक सम्पूर्ण कर्म-क्लेशों से मुक्ति प्राप्त करना ही मूल साधना है। साधक अनासक्तभाव से उस चरम परिणति की साधना करता है, क्योंकि साधना के लिए आसक्ति जहरीला कीडा है। कितनी ही ऊँची साधना हो, यदि आसक्ति है तो वह उसे अन्दर ही अन्दर खोखला कर देती है। इसलिए साधक हर प्रकार की आसक्ति से रहित होकर समभावपूर्वक साध्य की साधना करता है। आत्मसाधक कर्मबंधन को उसी प्रकार हटा देता है, जिसप्रकार सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को हटा देता है। पर से ममत्व हटे बिना एवं स्वभाव की रूचि हुए बिना साधक की चित्त शुद्धि नहीं होती है और चित्त शुद्धि हुए बिना कर्मबंधन से मुक्त होना असंभव है। अत चित्त की शुद्धि हेतु पर से अनासक्त होना आवश्यक है।

इहलोक और परलोक में जीवन को निर्मल और सुखद बनाने के लिए तथा पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जैन साधना के सरल सूत्रों को प्रस्तुत कृति में उद्घाटित किया गया है। सम्यक् साधना सामायिक, प्रतिक्रमण एवं समाधिमरण के बिना सम्भव नहीं है। सामायिक साम्यभाव को प्राप्त करने का साधन है और साम्यभाव मोह-क्षोभ रहित आत्मपरिणाम है।'इस परिणाम से निर्वाण की प्राप्ति होती है। समताभाव पूर्वक मरण समाधिमरण है। प्रस्तुत कृति में साधना के इन्हीं सरल सूत्रों का विस्तार से मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी विवेचन किया गया है। इस कृति में सामायिक, प्रतिक्रमण एवं आलोचना पाठ, समाधिमरण, बारहभावना एवं जैन आचार-आहार विधि के रूप में पाँच अध्याय है। अन्त में 'परिशिष्ट' के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

विषय-सूची

साधना के सूत्र

अध्याय १

सामायिक

सम्—राग-द्वेष रहित, आय-उपयोग की प्रवृति। राग-द्वेष की परिणति का अभाव करके साम्यभावरूप परिणति को प्राप्त करना सामायिक है। सम्—राग-द्वेष की निवृति, आय-प्रशमादिरूप ज्ञान का लाभ। राग-द्वेष में माध्यस्थ भाव रखना सामायिक है। मोह-क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम ही सामायिक है। सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इन चार प्रकार की अवस्था को सामायिक कहते हैं। अपने स्वरूप की साधना में भूल न हो जाय उसके लिए शरीर की शुद्धि के साथ शुद्ध कपडे पहिन कर एकान्त स्थान में स्थिरतापूर्वक अपने शुद्ध स्वरूप का विचार करना ही सामायिक है।

सामायिक क्यों करनी चाहिए।

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान रूप संसार प्रवृत्ति की निवृत्ति और धर्मध्यान रूप प्रवृति में सर्व जीवो के प्रति वैर विरोध को त्यागकर संयम, तप और त्याग भावना के भावरूप उदासीनता को प्राप्त कर समताभाव की सिद्धि के लिए सामायिक करने में आवे तो वह वीतरागता की प्राप्ति का कारण है।

सामायिक आत्मकल्याण के हेतु करने में आती है। जितने-जितने अंशों में विषयकषाय घट जावे और परिणामों में वीतरागता व शान्ति बढती जावे, उतने-उतने अंशों में धर्मसाधन की प्राप्ति के लिए मुमुक्षुओं का सामायिकादि षट् आवश्यक करना परम कर्त्तव्य है।

सामायिक करने से क्या लाभ?

सामायिक करने वाले मुमुक्षु के सब प्रकार के पापास्रव कर सातिशय पुण्य का बन्ध होता है। भावपूर्वक सामायिक से सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति मूल कारण सामायिक ही है। एकाग्रतारूप साम्यता से ही जीव निष्कर्मरूप अवस्था प्राप्त होती है।

अभव्य जीव को भी द्रव्य-सामायिक के प्रभाव से नौवे ग्रैव के अहमिंद्र पद की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर भाव-सामायि केवलज्ञान क्यो नहीं प्राप्त होगा? अवश्य होगा।

सामायिक करने से पचेन्द्रिय-विषय एव अतरग कषाय नाश होता है और पदार्थ के प्रति ममता छूट जाती है। छह के जीवो के प्रति समता प्रकट होती है।

सामायिक का प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक शुभोपयोग सातिशय पुण्य बाँध कर अभ्युदय युक्त सर्व सुख भोग कर भव की प्राप्ति करता है, और फिर निर्ग्रंथ-मुनि होकर शुद्धोप को प्राप्त करके सवर पूर्वक समस्त कर्मो की निर्जरा करते हुए मो की प्राप्ति कर लेता है।

सामायिक के स्थान

जिस स्थान मे, चित्त मे विक्षेप करने के कारण न हो, अनेक लोगो के वाद-विवादिक का कोलाहल न हो, अधिक ज जीवो का आवागमन न हो, स्त्रियो का, नपुसको का विशेष आना-ज न हो, गीत, नृत्य वाद्यग्रन्थो आदि का प्रचार समीप मे न हो, जा एव पक्षियो का सचार न हो, जहाँ बहुत शीत तथा उष्णता प्रचण्ड पवन की, वर्षा की बाधा न हो, डाँस, मच्छर, मक्खी, बिच्छू इत्यादिक जीवो के द्वारा कोई बाधा न हो, ऐसे विक्षेप

एकान्त-स्थान हो, वन हो या जीर्ण बाग के मकान हो, गृह हो, चैत्यालय हो या धर्मात्मा पुरुषों का प्रोषधोपवास करने का स्थान हो, ऐसे एकान्त विक्षेप रहित स्थान में प्रसन्नचित्त होकर, समस्त मन के विकल्पो को छोडकर सामायिक करनी चाहिये।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक नं ११ के आधार से)

सामायिक प्रारम्भ करने की विधि

सामायिक प्रारम्भ करने से पहिले अपनी इन्द्रियों के विषय-व्यापार से विरक्त होकर अपने केश-वस्त्रादि को यथाविधि बाँधना चाहिए, जिससे कि सामायिक करते समय क्षोभ न हो। सामायिक के काल में खान; पान, व्यापार, रोजगार, लेन-देन, विकथा, आरम्भ, समारंभ विसंवादादि समस्त पाप क्रियाओं को मन-वचन-काय-कृत-कारित अनुमोदना से त्याग कर एवं मर्यादा के बाहर क्षेत्र में नियत समय तक हिंसादि पांच पापों को सर्वथा त्याग कर राग-द्वेष रहित सकल जीवों पर समता भाव धारण कर; आर्त्त, रौद्र ध्यान छोड कर एक चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

"अहं समस्त सावद्ययोगाद्विरतोऽस्मि"

'मैं समस्त सावद्ययोग का त्याग करता हूँ।' ऐसे कहकर पूर्व या उत्तर दिशा में मुंह करके दोनों हाथों को सीधा लटका कर दोनों पावों के बीच में चार अंगुल की जगह रखकर नासादृष्टि लगाकर कायोत्सर्ग पूर्वक आसन पर खडा होकर अरहन्त सिद्ध भगवान की साक्षी से दो घडी ४८ मिनट तक सामायिक करने की आज्ञा लेकर प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

मेरी सामायिक काल की मर्यादा पूर्ण न हो जाय, तब तक मैं दूसरे स्थान का एवं परिग्रह का त्याग करता हूँ, और अपनी देह पर रहे हुए परिग्रह एवं शरीर के प्रति ममता का त्याग करने का

आसन लगाने की विधि

(१) खड्गासन—अपने दोनों पैरों को चार अंगुल के फासले से रखकर दोनों हाथ को सीधा लटका कर सीधा खड़ा होने को खड्गासन कहते हैं।

(२) पद्मासन—दाहिनी जांघ पर बायें पैर, बाईं जांघ पर दाहिने पैर को रखकर गोद में बायें हाथ की हथेली को नीचे रख कर दाहिने हाथ की हथेली को ऊपर रख कर सीधा बैठने को पद्मासन कहते हैं।

(३) पर्यङ्कासन (अर्द्धपद्मासन)—बायें पैर की जांघ के ऊपर दाहिना पैर रखकर पद्मासन की भांति हाथों की हथेलियों को रखकर सीधा बैठने को अर्द्धपद्मासन कहते हैं।

सामायिक करते समय पूर्व दिशा में इन आसनों में से कोई एक आसन लगाकर आँखों को आधी खुली रख कर सौम्य नासाग्र

से उपयोग को (तत्वो के ज्ञेयों की) तत्त्वदृष्टि (षट् द्रव्य व उनकी गुणपर्यायों) पर लगाना चाहिए। (सामायिक काल मे मौन पूर्वक शान्त चित्त से प्रमाद छोड कर उत्साह पूर्वक सामायिक करना चाहिए। मनोवृति की शुद्धि से चित्त शान्त होता है और उपयोग निश्चल दशा को प्राप्त होता है। शुद्धात्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता करना ही यथार्थ सामायिक है।)

यदि सामायिक पाठ याद न हो तो इस पुस्तक में जिस क्रम से सामायिक के पाठ छपे हैं, उसके अनुसार शुद्ध उच्चारण करें। साथ में अपने दूसरे साथी हो तो उनके स्वर में स्वर मिलाकर पाठ करें, पाठ का भाव बराबर समझते रहना चाहिए।

सामायिक मे णमोकार मंत्र, अ सि आ उ सा नमः, अर्हत्सिद्धाचार्यो पाध्याय सर्वसाधुभ्यो नमः, अरिहत सिद्ध, ॐ ह्री अर्हं अ सि आ उ सा नमः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः मत्र का १०८ बार जाप करें। जाप पूरे होने पर पूर्वोक्त लिखे अनुसार पुनः चारों दिशाओं में णमोकार मंत्र पूर्वक नमस्कार करें।

(सूत की जापमाला में १०८ दाने होते हैं। उनका रहस्य यह है कि गृहस्थ संरम्भ, समारम्भ, आरंभ ये तीन मन-वचन और काय से स्वयं करते हैं, कराते हैं, जो क्रोध, मान, माया, लोभ के वश में होकर करते हैं। इसलिए इनके परस्पर गुणने से १०८ कर्मास्रव के भंग होते हैं। कोई भी पापकार्य उक्त प्रकार से होता रहता है, जिससे अशुभ-कर्म बंधता है। इसके रोकने का उपाय सामायिक है।)

सामायिक पूर्ण करने की विधि

सामायिक काल में मन, वचन, काय की प्रवृति में ३२ दोषों में से कोई भी दोष जाने-अनजाने प्रमादवश हो गया हो तो अरहन्त भगवान से क्षमा माँगनी चाहिए।

सामायिक पाठ बोलने मे मात्रा, विन्दी, पद, अक्षर, सूत्र आदि का हीनाधिक, विपरीत, अशुद्ध-उच्चारण किया हो या कोई पाप दोष लग गया हो तो उनकी भगवान् से क्षमा मॉंगनी ।

सामायिक काल मे मन, वचन, काय से आत्मभावना ठहर कर उपयोग को अशुभ भावो मे (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, क और योग) असावधानी से लगाया हो या और किसी प्रकार का दोष लगा हो तो भगवान से क्षमा मागनी चाहिए।

सामायिक मे अतिक्रम, व्यत्तिक्रम, अतिचार, अनाचार, से, अनजान से किसी प्रकार का पाप दोष प्रमादजन्य हो गया तो भगवान से क्षमा मॉंगनी चाहिए।

इस तरह क्रिया करने के बाद ९ बार 'णमोकार मन्त्र' जाप्य करके सामायिक पूर्ण करनी चाहिए।

सामायिक के ६ भेद

नाम-सामायिक- शुभ-अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष नहीं क सो नाम-सामायिक है।

स्थापना-सामायिक- कोई स्थापना प्रमाणादिक से सुन्दर है प्रमाणादि से हीनाधिक होने से असुन्दर है। प्रति राग-द्वेष का अभाव, सो स्थापना- है।

द्रव्य-सामायिक- सुवर्ण, चॉंदी, रत्न, मोती इत्यादि एवं काष्ठ, पाषाण, कण्टक, राख, भस्म, इत्यादिक मे राग-द्वेष रहित सम देखना, द्रव्य-सामायिक है।

क्षेत्र-सामायिक- महल, उपवनादिक रमणीक, श्मशानादिक क्षेत्र मे राग-द्वेष छोडना, सो क्षेत्र-सामायिक

काल-सामायिक- हिम, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतु में और रात्रि, दिवस व शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष इत्यादिक काल में राग-द्वेष का वर्जन, सो काल-सामयिक है।

भाव-सामायिक- समस्त जीवों के दुःख न हो ऐसे मैत्रीभाव से तथा शुभ-अशुभ परिणामों के अभाव को भाव-सामायिक कहते हैं।

वैर-त्याग चिन्तन-

सामायिक करने वाला समस्त जीवों में मैत्री धारण करता हुआ परम क्षमा को धारण करता है। कोई जीव मेरा वैरी नहीं है, अज्ञानवश उपार्जन किया मेरा कर्म ही वैरी है। मैंने स्वयं अज्ञान भाव से क्रोधी, मानी, लोभी होकर विपरीत परिणाम किये। जिस वस्तु-व्यक्ति से मेरा अभिमान पुष्ट नहीं हुआ उसको वैरी माना, किसी ने मेरी प्रशंसा-स्तुति नहीं की, उसी को वैरी समझा। मेरा आदर-सत्कार नहीं किया व उच्च-स्थान नहीं दिया उसको वैरी समझा। किसी ने मेरे दोषों को प्रकट किया उसको वैरी जाना - सो यह सब मेरी कषाय से, दुर्बुद्धि से अन्य जीवों में वैर-बुद्धि उपजी है, इसको छोड़कर क्षमा अंगीकार करता हूँ और अन्य समस्त जीव मेरा अज्ञान भाव जानकर मुझे क्षमा करें।

आत्म चिन्तन-

समस्त दिन में प्रमाद के वश होकर तथा कषायो के वशीभूत होकर अथवा विषयों में रागी-द्वेषी होकर किन्हीं एकेन्द्रियादिक जीवों का घात किया तथा अनर्थक प्रवर्तन किया व सदोष भोजन किया अथवा किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाई तथा कर्कश-कठोर मिथ्या वचन कहे अथवा किसी की विकथा की अथवा अपनी प्रशंसा करी अथवा अदत्त धन ग्रहण किया अथवा पर के धन मे लालसा करी

सामायिक-पाठ (भाषा)

(प्रथम प्रतिक्रमण कर्म)

काल अनन्त भ्रम्यो जग में सहिये दुख भारी।
जन्म-मरण नित किये पाप को है अधिकारी॥
कोटि भवान्तर माहिं मिलन दुर्लभ सामायिक।
धन्य आज मैं भयो योग मिलियो सुखदायक॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मैं अब।
ते सब मन-वच-काय योग की गुप्ति बिना लभ।
आप समीप हजूर माहिं मैं खड़ो खड़ो सब।
दोष कहूं सो सुनो करो नठ दुख देहिं जब॥ २ ॥

क्रोध मान मद लोभ मोह माया वशि प्रानी।
दुःखसहित जे किये दया तिनकी नहिं आनी॥
बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय बि ति चउ पंचेन्द्रिय।
आप प्रसादहिं मिटै दोष जो लग्यो मोहि जिय॥ ३ ॥

आपस में इकठौर थापकरि जे दुख दीने।
पेलि दिये पगतैं दाबि करि प्रान हरीने॥
आप जगत के जीव जिते तिन सब के नायक।
अरज करूं मैं सुनो दोष मेटो दुखदायक॥ ४ ॥

अंजन आदिक चोर महा घनघोर पापमय।
तिनके जे अपराध भये ते क्षमा क्षमा किय॥
मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि।
यह पडिकोणो कियो आदि षट्कर्म माहिं विधि॥५॥

(द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म)

जो प्रमादवशि होय विरोधे जीव घनेरे।
तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे॥
सो सब झूठी होऊ जगतपति के परसादै।
जा प्रसाद टें मिलै सर्व सुख दुःख न लाधै॥६॥
मैं पापी निर्लज्ज दयाकरि हीन महाशठ।
किये पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ॥
निंदूं हूं मैं बार बार निज जिय को गरहुं।
सब विधि धर्म उपाय पाय फिर पापहि करहूं॥७॥
दुर्लभ है नरजन्म तथा श्रावक कल भारी।
सत संगति संयोग धर्म जिन-श्रद्धा धारी॥
जिन वचनामृत धार समावर्तै जिनवाणी।
तोह जीव संहारे धिक् धिक् धिक् हम जानी॥८॥
इन्द्रिय लपट होय खोय निजज्ञान जमा जब।
अज्ञानी जिमि करै तिसि विधि हिंसक ह्वै अब॥
गमनागमन करंतो जीव विराधे भोले।
ते सब दोष किये निन्दूं अब मन वच तोले॥९॥
आलोचनविधि थकी दोष लागे जु घनेरे।
ते सब दोष विनाश होउ तुमतें जिन मेरे।
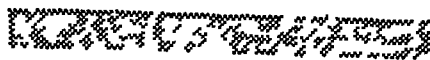
(चतुर्थ स्तवन कर्म)

नमो वृषभ जिनदेव अजित जिन जीत कर्म को।
सम्भव भवदुःखहरण करण अभिनन्दन शर्म को॥
सुमति सुमति दातार तार भवसिन्धु पार कर।
पदमप्रभु पद्माभ भानि भव भीति प्रीति धर॥ १६ ॥
श्री सुपार्श्व कृतपाश नाश भव जास शुद्ध कर।
श्रीचन्द्रप्रभ चंद्रकांति सम देह कांति धर॥
पुष्पदंत दमि दोषकोश भविपोष रोषहर।
शीतल शीतल करण हरण भव ताप दोषहर॥ १७ ॥
श्रेयरूप जिनश्रेय ध्येय नित सेय भव्यजन।
वासुपूज्य शतपूज्य वासवादिक भवभयहन॥
विमल विमलमति देत अन्तगत हैं अनंत जिन।
धर्मशर्म शिवकरण शांतिजिन शांतिविधायिन॥ १८ ॥
कुन्थुकुन्थु जीवपाल अरनाथजाल हर।
मल्लि मल्लसम मोहमल्लमारन प्रचार धर॥
मुनिसुव्रत व्रतकरण नमतसुरसंघ हि नमि जिन।
नेमिनाथ जिननमि धर्म रथमाहिं ज्ञानधन॥ १९ ॥
पार्श्वनाथ जिन पार्श्व उपलसम मोक्षरमापति।
वर्द्धमान जिन नमूँ वमूँ भवदुःख कर्मकृत॥
या विधि मैं जिन संघरूप चौबीस संख्यधर।
स्तवूँनमूँ हूँ बार बार बन्दूं शिव सुखकर॥ २० ॥

(षष्टम कायोत्सर्ग कर्म)

कायोत्सर्ग विधान करूं अंतिम सुखदाई।
काय त्यजनमय होय काय सब को दुःखदाई।।
पूरब दक्षिण नमूँ दिशा पश्चिम उत्तर मैं।
जिनगृह वदन करूं, हरूं भव-पापतिमिर मै।।२६।।
शिरोनति मैं करूं नमूँ मस्तक करि धरिकैं।
आवर्तादिक क्रिया करू मन वच मद हरिकैं।
तीन लोक जिन-भवन माहिं जिन हैं जु अकृत्रिम।।
कृत्रिम हैं द्वय अर्द्धद्वीप माहीं वदों जिम।।२७।।
आठ कोडि परि छप्पन लाख जु सहस सत्याणूं।
चार शतक पर असी एक जिन-मंदिर जाणूं।।
व्यंतर ज्योतिषि माहिं संख्यरहिते जिन मंदिर।
ते सब वंदन करूं हरहूँ मम पाप संघकर।।२८।।
सामायिक सम नाहिं और कोऊ मैत्रीदायक।
श्रावक अणुव्रत आदि अंत सप्तम गुण थानक।
यह आवश्यक किये होय निश्चय दुःखहानक।।२९।।
जे भवि आतम काज मरण उद्यम के धारी।
ते सब काज विहाय करो सामायिक सारी।।
राग द्वेष मद मोह क्रोध लोभादिक जे सब।
बुध महाचन्द्र विलाय जाय तातैं कीज्यो अब।।३०।।

२

सामायिक-पाठ

(भाषानुवाद सहित)

सिद्धवस्तु वचो भक्त्या, सिद्धान् प्रशमतः सदा।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम्॥१॥

अर्थ—श्री सिद्ध परमेष्ठी, जगत के सब पदार्थों यथार्थ स्वरूप कहने वाले जैनागम और उस आगम के प्ररूपक श्री अरहत भगवान को भक्ति पूर्वक नमस्कार और उसमे प्ररूपित सत्य मार्ग पर चल कर जिन ने संसारदुःख को नष्ट करने रूप कार्य को सिद्ध किये है जीवन मुक्त अरहंत देव और मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी भी अविनश्वर पद-सिद्धि प्राप्त करावें।

भावार्थ—जिन पुरुषो ने श्री अरहंत और सिद्ध को अपना आदर्श मानकर और उनके दिखाए हुए मार्ग अवलम्बन स्वीकार कर अरहंत और सिद्ध पद प्राप्त किया वे महापुरुष मुझे भी अविनश्वर-पद के मार्ग पर करें॥१॥

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम्॥२॥

अर्थ—मै समस्त कर्म कलक को धो डालने वाले सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति पूर्वक अपने मन मंदिर विराजमान कर, महर्षि पुरुषो के रहने योग्य कोलाहलादि रहित, शात स्थान मे स्थित होकर संसार-दुःख का नाश

वाले और परमानद प्राप्त कराने वाले सामायिक को प्रारम्भ करता हूँ अर्थात् उसका कथन करता हूँ॥२॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य समाधिमहमाश्रये॥३॥

अर्थ—ऐसी भावना करनी चाहिए कि सब जीव मात्र के साथ मेरा साम्यभाव हैं, किसी के साथ भी वैर नहीं है और समस्त इच्छाओं-आशाओ को छोड़ कर मै हमेशा आत्म-ध्यान में लीन होता हूँ॥३॥

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिता।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः॥४॥

अर्थ—अनादि काल से अब तक ससार में घूमते हुए मैने जिन जीवो का रागद्वेष व मोह वश होकर घात किया है उन सब से मेरी विनय पूर्वक प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा प्रदान करे। अनादि काल से आज तक रही मेरी इस दुर्बुद्धि का मुझे अत्यत खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों ने मेरा कोई अपराध किया हो उन्हे भी मैं सरल ह्रदय से क्षमा करता हूँ॥४॥

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निंदामि वर्जये॥५॥

अर्थ—यह विचार करना चाहिए कि मन, वचन और काया से कृत कारित और अनुमोदन द्वारा मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो दोष लगे हो उन सब की मैं गर्हणा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उन दोषो का त्याग करता हूँ॥५॥
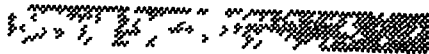
तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन् सत्यजामि विशुद्धितः॥६॥

अर्थ—मैं इस समय तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा हुए उपसर्ग को शांति पूर्वक सहन करने को तैयार हूं शरीर, सब परिग्रह, आहार तथा क्रोधादि कषाय आदि को यथाशक्ति छोड़ता हूं।६।

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षौत्सुक्यदीनता।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरति रतिमेव च॥७॥

अर्थ—मैं राग-द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दी अरति, रति आदि सबको मन, वचन और काया से छो हूं॥७॥

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम॥८॥

अर्थ—जीवन मृत्यु में, लाभ हानि में, संयोग-वि में, मित्र-शत्रु में, सुख-दुःख में मेरा सदा समभाव रहे—चिंतवन करना चाहिए॥८॥

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयो॥९॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में मेरा आत्मा ही है तथा मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान, संवर योग में है॥९॥

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा वहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०॥

अर्थ—मेरा एक शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है शेष सब बाह्य भाव सयोग लक्षण वाले है।

भावार्थ—ज्ञान दर्शन स्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तव मे मेरी निधि है, बाकी संयोग लक्षण वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि भाव तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थ मेरे से भिन्न है, उनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नही है॥१०॥

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम्॥११॥

अर्थ—मेरी आत्मा ने अनादिकाल से अब तक कर्मरूप संयोगो का आश्रय लेकर दुःख की परम्परा प्राप्त की है इसलिए मैं अब मन-वचन-काय से सर्व सयोग-सम्बन्ध छोडता हूँ।

भावार्थ—इस प्रकार मनन-चितन द्वारा आत्मार्थी को हिताहित का विवेक करना चाहिए और आत्मा को शुद्धोपयोग में लीन करना चाहिए॥११॥

एवं सामायिकात्सम्यक् सामायिकमखण्डितम्।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठ में वर्णित विधि के अनुसार जो परम अखडित सामायिक करते हैं और जिन्होंने मुक्तिरूप स्त्री को वशीभूत किया है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है उनको मेरा नमस्कार हो॥१२॥

आध्यात्मिक सामायिक-पाठ

द्रव्य भाव नोकर्म बिन; सिद्ध स्वरूप विचार।
सामायिक प्रारम्भ करूं, भवभव नाशनहार॥१॥

शुद्ध निश्चय नय से मेरा आत्मा (शक्ति से) शुद्ध एक है, निजानद है, निष्कषायी, अपवेदी, अकर्त्ता, निकल (रहित), अचल, निर्लेप, वीतरागी, अविनाशी, अनुपम, (टकोत्कीर्ण), अक्षय, अमल, अजर, अरुज, अभय, एकाकार, अनादि, अनन्त, अव्याबाध, अजेय अतीन्द्रिय-है।

मै नित्यानन्द, सहज शुद्ध, चैतन्य स्वरूपी जीव हूँ। मै सदा निजानन्द स्वरूप मे लवलीन हूँ।

मै अखण्ड अद्वैत, स्वाभाविक चैतन्य-विलास से आनन्द का भोक्ता हूँ। शाश्वत सुख का स्वामी, सदा आत्म भगवान् (भगवान् आत्मा) हूँ।

मै निश्चय से पर औपाधिकभावो से रहित ज्ञानानन्द, ज्योतिर्मयी, नित्य प्रकाशमान, निपुण, परम भगवान् स्वरूप हूँ।

एक अनुपम, अनन्य, परिपूर्ण मेरा धाम है। मै मेरे आत्मा मे तृप्त हूँ। मै शुद्ध त्रिकाली, अखण्ड, परमात्म-स्वरुप शक्ति से भगवान् स्वरूप हूँ। मै अनन्त, वीतरागी, निराकार, निरंजन, ज्ञाता, दृष्टा, शुद्ध-स्वरुपी, निर्मोही, निष्कप, निर्ममत्त्व, अरुपी-अमूर्तिक-द्रव्य हूँ।

•मैं न परका कर्त्ता हूँ, न हर्त्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, न रागी हूँ, न द्वेषी हूँ, सर्व परभावों से भिन्न हूँ, द्रव्यकर्म से भिन्न हूँ, क्षणिक भाव से भिन्न हूँ, कर्मजन्य औपाधिक भावों से भिन्न हूँ, पंच-पापो से भिन्न हूँ और सर्व परद्रव्यो से भिन्न हूँ।

मै मेरे से अभिन्न हूँ, एकाकार हूँ, चिदानन्दरूप हूँ। मै आत्मानन्दी, सहजानन्दी, ज्ञानानन्दी, चिदानन्दी, निजानन्दी, परमानन्दी, जिनेश्वर, सिद्धेश्वर, बुद्धेश्वर, परमेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शकर, शिव, गणपति, पुरुषोत्तम, परमानन्द, आत्मानन्द, चैतन्य, अद्वैत आदि अनन्त नामो का स्वामी हूँ।

मैं अखण्ड, अद्वैत, परमानन्द स्वरूप, निजकारण-परमात्मा से परम-तपोधन, शुद्ध, निश्चल उपयोग स्वरूप आत्मा हूँ; मेरा चैतन्य-विलास शुद्ध, निर्विकार, अनुपम धाम स्वरूप है।

मैं अखण्डानन्द, एक, अद्वैत, चेतन-स्वरूप भावों से भरपूर शुद्ध-जीवास्तिकाय हूँ। मैं शुद्ध निश्चयनय से विचार करता हूँ तो मैं न नारकी हूँ, न देव हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मनुष्य हूँ, न मेरे मे गुणस्थान है, न मैं पर का कर्त्ता, हर्त्ता व भोक्ता हूँ, न बालक हूँ, न युवा हूँ, न वृद्ध हूँ, न मै क्रोधादि रागादि परिणामों का कर्त्ता हूँ, ये सर्व पुद्गल-कृत कार्य हैं, मैं तो उनको मात्र जानने वाला ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ, न मैं इन अवस्थाओ का कर्त्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, मैं एक, अखण्डानन्द, चैतन्य मात्र, ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा हूँ। सदा

मैं मेरे चैतन्य परिणाम का कर्त्ता और स्वभाविक-सुख का हूँ। पर का न मै किंचित् मात्र कर्त्ता हूँ न भोक्ता हूँ।

आरम्भ और बहु परिग्रह के धारक अज्ञानी (जीव अपने रागादि सद्‌भाव से उन नरकादि दुर्गतियो का करते है, जिनसे उनका जन्म-मरण (ससार) नही मिटता मै उन सर्व कृतियो से भिन्न हूँ। ससार दु खरूप है, है, अशरण है, दुःखमय है, विनाशिक है, कनिष्ट है। सुखरूप, नित्य, शरणरूप, ज्ञायक, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण

मै एक परम शुद्धपारिणामिक-भाव का धारक हूँ। परम चैतन्यमई एक ज्ञान सत्तामात्र सुख मे उत्कृष्ट आत्‍ तत्त्व के अनुभव मे लवलीन हूँ, मै स्वभाविक-निश्चयनय सदा निरावरण, शुद्ध ज्ञान स्वरूपी हूँ। मै सहज शान्ति का धारक हूँ।

शुद्ध निश्चयनय से मेरा आत्मा सहज दर्शन गुण प्रकाशमान, परिपूर्ण, चैतन्यमूर्ति, चेतना-विलास को करने वाला है। ऐसे सर्व विभाव-भावो, विभाव-पर्यायो त्याग् कर मै सर्व विभाग भावो, विभाव-पर्यायो को मै मेरे आत्मा का चिन्तवन करता हूँ। मै अपने चित्त सर्व इन्द्रिय-विषयो से हटाकर मेरे शुद्ध आत्मिक-गुण-पर्याय मे लगाता हूँ, जिससे मुझे शीघ्र ही मुक्तिरमा प्राप्ति हो।

मैं निश्चयनय से सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानन्द, निरंजन, शुद्धात्मा सम्यदग्दर्शन, ज्ञान, चरित्ररूप निश्चय रत्नत्रयीमयी, निर्विकल्प, समाधि से उत्पन्न वीतराग, सहजानन्द रूप, आनन्दानुभूति मात्र स्वसंवेदन ज्ञान से गम्य हूँ, अन्य उपायों से गम्य नहीं हूँ, निर्विकल्प निजानन्द ज्ञान मात्र से ही मेरी प्राप्ति है, मैं ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूं, मै तीन लोक तीन काल में, मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से उत्पन्न सुख-दुख, हर्ष-विषाद, लाभ-अलाभ; मानापमान, भोगाभोग, निन्दा-प्रशंसा, ममता-अहंता, पाप-पुण्य, श्वेत-श्याम, गरीब-अमीर, ऊंच-नीच, कुल-जाति, स्पृश्यतास्पृश्य आदि सर्व-विभाव पर्यायों से भिन्न एक चिदानन्द आत्माराम हूँ। सर्व जीव मेरे समान हैं, इसलिए मैं किसको मित्र कहूँ व किसको शत्रु कहूँ।

मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पांचों इन्द्रियो का विषय व्यापार; मन-वचन-काय, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म; ख्याति, लाभ, पूजा, देखे, सुने, अनुभवे भोगों की वांछा रूपी निदान; माया, मिथ्यात्व तीनों शल्यों से और सर्व प्रकार के विकार विभाव और परभावों से भिन्न और निजभावो से अभिन्न एक अखण्डानन्द, टकोत्कीर्ण, निर्मोही, ज्ञायक-स्वभावी आत्मा हूँ।

मैं पर्यायार्थिकनयसे अवलोकन करता हूँ तो मेरा आत्मा सर्व पर्यायों से संयुक्त है। ये सर्व विभाव-भाव मेरे पर्यायार्थिकनय में प्रतिभास होते है, फिर भी ये मेरा स्वभाविक

भाव नहीं है, परन्तु औदयिक भाव हैं। और मैं पारिणामिक भाव का स्वामी हूँ। मेरा इन से ज्ञेय-ज्ञायक है, परन्तु कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध कदापि न था, न है और हो सकता है, क्योकि जन्म-जरा-मृत्यु; विषय-बन्ध-उदय-सत्ता, संस्थान-सहनन आदि कर्म के विपाक हैं, इनका जानने वाला हूँ। निश्चयनय से मैं एक शुद्ध, निरजन, निराकार, ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी, असहाय, विमल, अमल, ज्ञायक मात्र वीतराग-स्वरुपी, ज्ञानानंद, सुखानद का स्वामी, परम तत्त्वरूप हैं। मैं भावना के अवलम्बन से सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदरुप ज्ञानस्वरूपी आत्मा का निरीक्षण करता हूँ, जिससे चैतन्य-प्रकाशमान होती है, जो हजारो की किरणो से भी गुणी उज्जवल है व हजारो चंद्रमा से अनन्त गुणी है। मैं ज्यों-ज्यों आर्ष-वचनों का अभ्यास करता हूँ व का चिन्तवन करता हूँ, त्यो-त्यो मेरे में तीनो लोको के को प्रकाशित करने मे सूर्य के समान भेद-विज्ञानरूप कला होती है और जैसे-जैसे भेदविज्ञान बढता जाता है, वैसे-ही राग निवृति रूप स्वरूप स्थिरता बढ़ती जाती है और निश्चल निष्कम्प सुमेरु पर्वत के समान अचल, अडोल जाता है अतः मै आर्ष-वचनो का अभ्यास पूर्वक श्रद्धान हूँ।

मै चेतन, असख्यात प्रदेशी, मूर्तिक से रहित ज्ञान-लक्षण वाला, सिद्धरूप, कर्ममल रहित, शुद्धात्मा हूँ। मै

पदार्थ नहीं हूँ, और अन्य पदार्थ मेरे रूप में नही हैं। मैं अन्य का नहीं हूँ; और न अन्य ही मेरे हैं; अन्य, अन्य हैं, मैं, मैं हूँ; अन्य, अन्य का है; मै मेरा हूँ। शरीर जुदा है, मैं जुदा हूँ। मैं चेतन हूँ; शरीर अचेतन है, शरीर अनेक परमाणुओं का पिण्ड है, मैं एक हूँ, शरीर नश्वर है, मैं अविनाशी हूँ; ससार के अचेतन पदार्थ मेरे रूप में नहीं होते और मैं अचेतन नही होता; मैं ज्ञानत्मा हूँ; मेरा कोई नही है; मैं अन्य किसी का नहीं हूँ। जो यहाँ शरीर के साथ मेरा स्व-स्वामी सम्बन्ध हो रहा है, व एकत्व का भ्रम हो रहा है, वह सब पर (कर्म) के निमित्त से हो रहा है, स्वरूप से नहीं। जीवादि द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला मैं अपने द्वारा अपने में, अपने को, जैसा कि मैं हूँ, देखता हुआ पदार्थों के विषय मे उदासीन हूँ, राग-द्वेष रहित होता हुआ मध्यस्थ हूँ।

इस प्रकार का चिन्तन, मनन करते हुए मुमुक्ष जीवो को आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, इससे कर्मों का बधन टूटता है और स्वरूप-स्थिरता होती है।

इस प्रकार आध्यात्मिक सामायिक का फल भेदज्ञानपूर्वक वैराग्य की प्राप्ति और वैराग्य पूर्वक निजात्म पद की प्राप्ति होती है।
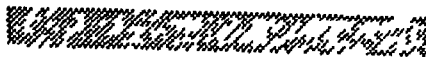
श्री अमितगतिसूरिविरचित

पद्यानुवाद ब्र शीतल प्रसाद जी

सामायिक पाठ

(हिन्दी भाषानुवाद सहित)

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव॥१॥

हे जिनेन्द्र! सब जीवन से हो मैत्रीभाव हमारे,
दुख-दर्द पीड़ित प्राणित पर करू दया हरवारे।
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे,
नहि प्रेम नहि द्वेष वहा विपरीत-भाव जो धारे॥१॥

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः॥२॥

हे जिनेन्द्र! अब भिन्न करन को इस शरीर से आतम,
जो अनन्त शक्तिधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम।
शक्ति प्रगट हो मेरे मे अब तव प्रसाद परमातम,
जैसे खड्ग म्यान से काढ़त अलग होत तिमआतम॥२॥

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेस्तु सदापि नाथ॥३॥

दुःख-सुखों मे, शत्रु-मित्र में, हो समान मन मेरा,
वन मंदिर में लाभ-हानि मे हो समता का डेरा।
सर्व जगत के थावर जगम चेतन जड़ उलझेरा,
तिन में ममत करूं नहिं कबहूं छोडू मेरा तेरा॥३॥

मुनीश। लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमोऽधुनानौ हृदि दीपकाविव॥४॥

हे मुनीश! तव ज्ञानमयी चरणों को हिय में ध्याऊं,
लीन रहें, वे कीलित होवें, थिर उनको बिठलाउं।
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊँ,
मोह अँधेरा दूर करनको रत्न दीप सम भाऊं॥४॥

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षताविभिन्ना मिलिता निपीडिता
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा॥५॥

एकेन्द्री दोइन्द्री आदिक, पचेन्द्री पर्यंता,
प्राणिन को प्रमादवश होके इत उत मैं विचरंता।
नाश छिन्न दुःखित कीने हो भेले कर कर अन्ता,
सो सब दुराचार कृत कल्मष दूर होहु भगवन्ता॥५॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो॥६॥

रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा ल
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि का किया लोप
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं,
मनोवचःकायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्॥७॥

मन वच य कषायन के वश जो कुछ पाप
है संसार दुःख का कारण ऐसा जान
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर
चतुर वैद्य जिम मंत्र गुणो से विष सहार किया

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं,
जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः।
व्यधादनाचारमपि प्रमादतः,
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये॥८॥

मतिभृष्ट हो हे जिन! मैंने जो अतिक्रम
सुआचार कर्मों में व्यतिक्रम अतिचार
हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार
शुद्ध करण को इन दोषो के प्रतिक्रम कर्म

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥९॥

मन विशुद्धि में हानि करे जो वह विकार अतिक्रम है,
शील स्वभाव उल्लंघन की मति सो जाना व्यतिक्रम है।
विषयो में वर्तन हो जाना अतिचार नहिं कम है,
स्वच्छंदी बनकर प्रवृत्ति सब अनाचार इक दम है॥९॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं,
मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवलबोधलब्धिम्॥१०॥

मात्रा पद अरु वाक्यहीन या अर्थहीन वचनों को,
कर प्रमाद बोला हो मैने दोष सहित वचनो को।
क्षम्य! क्षम्य! जिनवाणि सरवस्ति! शोधो मम वचनों को,
कृपा करो हे मात! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनों को॥१०॥

२ बोधिः समाधिः । परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने,
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि॥११॥

बार बार वन्दूं जिनमाता! तू जीवन सुखदाई,
मन चिन्तित वस्तू को देवे चिन्तामणि सम भाई।
रत्नत्रय अर ज्ञान समाधि शुद्धभाव इकताई,
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखों की सिद्धि दे जिनमाई॥११॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै—
र्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥१२॥
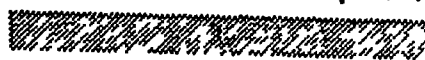
सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हे
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुती करे
वेद पुराण शास्त्र पाठो मे जिनका गान
परम देव मम ह्यदय विराजो तुझ मे भाव भरे है।।१

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः,
समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो ह्यदये ममास्ताम्।।१३।।

सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव
सब विकारि भावो से बाहर जिनमे है
ध्यान-द्वार अनुभव मे आवे परमातम
परमदेव मम् ह्यदय-विराजो भाव तुझी मे भारी।।१३

निपूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालं।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो ह्यदये ममास्ताम्।।१४।।

सकल दुख ससारजाल के जिसने दूर किये
लोकालोक पदारथ सारे युगपत् देख लिये
जो मम भीतर राजत है मुनियो ने जान लिये
परमदेव मम ह्यदय-विराजो सम रस पान किये हैं।।१

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्व्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो ह्यदये ममास्ताम्।।१५।।
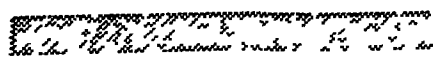
मोक्ष मार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावनहारा,
जन्मन मरण आदि दुःखो से सब दोषों से न्यारा।
नहिं शरीर नहिं कलङ्क कोई लोकालोक निहारा,
परमदेव मम हृदय विराजो तुम बिन नहिं निस्तारा॥ १५॥

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो ह्यदये ममास्ताम्॥ १६॥

जिनको ससारी जीवों ने अपना कर माना है,
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नही जाना है।
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है,
परमदेव मम हिय में तिष्ठो करता कल्याना है॥ १६॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः,
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो ह्यदये ममास्ताम्॥ १७॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगत में है व्यापक सुखदाई,
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंध से रहित परम जिनराई।
जिसका ध्यान किये क्षण क्षण मे सब विकार मिट जाई,
परमदेव मम हिय में तिष्ठो यही भावना भाई॥ १७॥

न स्पृश्यते कर्मकलंकदोषै—
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

कर्म मैल के दोष सकल नहि जिसे पर्श
जैसे सूरज की किरणो से तम समूह
नित्य निरजन एक अनेकी इस मुनिगण
उसी देव को अपना लखकर हम शरणा आते है ।।

विभासते यत्र मरीचिमालि,
न विद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरण प्रपद्ये ।।१९ ।।

जिसमे तापकरण सूरज नहि ज्ञानमयी
बोध भानु सुख शांति सुकारक शोभ रहा
अपने आतम मे तिष्ठै है रहित सकल मल
उसी देव को अपना लखकर शरणा ली भवत्रासी ।।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।२० ।।

जिसमे देखत ज्ञान दर्श से सकल जगत ।
भिन्न भिन्न षट्द्रव्यमयी गुण पर्ययमय समता
शुद्ध शात शिवरूप अनादि जिन अनत
उसी देव को अपना लखकर शरणा ली सुख भासे ।।

येन क्षता मन्मथमानमूर्च्छा,
विषादनिद्राभयशोकचिंता ।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च—
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ।।२१ ।।

जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान परिग्रह भारी,
मन विषाद निद्रा भय चिंता रती शोक दुःखकारी।
जैसे वृक्ष समूह जलावत बन अग्नि भयकारी,
उसी देव को अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥२१॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधिभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥२२॥

है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृणका सथारा,
निश्चय से नहिं आसन है ये इनमे नहिं कुछ सारा।
इन्द्रिय विषय कषाय द्वेष से विरहित आतम प्यारा,
ज्ञानी जीवो ने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥२२॥

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्तोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥

नहि सथारा कारण हैगा निज समाधि का भाई,
नहिं लोगो से पूजा पाना सघ मेल सुखदाई।
रात दिवस निज आतम में तू लीन रहो गुण गाई,
छोड़ सकल भव रूप वासना निज में कर इकताई ॥२३॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥
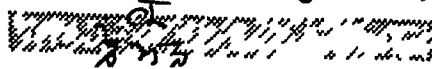
मम आतम बिन सकल पदारथ नहि मेरे
मै भी उनकी नहि होता हूँ नहि वे सुख
ऐसा निश्चय जान छोड के बाहर निज
उन सम हम नित स्वस्थ रहे ले मुक्ति कर्म खोते है।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमान—
स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

निज आतम मे देखो हे मन परम
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध
चाहे जिसी ठिकाने पर हो हो एकाग्र
जो साधू आपेमे रहते सच समाधि उन पाई॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥२६॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण
निर्मल केवल ज्ञान मयी सुख पूरण
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब
नही नित्त्य निजकर्म उदय से बना यह नाटकघर है।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
प्रथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नही है इस शरीर से भाई,
तब फिर उसके कैसे होगे नारी बेटा भाई।
मित्र शत्रु नहि कोई उसका नहिं सग साथी दाई,
तन से चमडा दूर करे नहि रोम छिद्र दिख पाई॥२७॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निवृत्तिमात्मनीनाम्॥२८॥

परके सयोगो मे पड तनधारी बहु दु.ख पाया,
इस ससार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया।
मन वच काया से निश्चयकर सबसे मोह छुडाया,
अपने आतम की मुक्ति ने मन में चाव बढाया॥२८॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसारकान्तारनिपातहेतुम्। कान्तार
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, देख
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे॥२९॥

इस ससार महावन भीतर पटकन के जो कारण,
सर्व विकल्प जाल रागदिक छोड़ो शर्म निवारण।
रे मन! मेरे देख आत्म को भिन्न परम सुख कारण,
लीन होहु परमातम माही जो भव ताप निवारण॥२९॥

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥३०॥

पूर्व काल मे कर्मबन्ध जैसा आतम ने कीना,
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना।

परका दिया अगर सुख दुख पावे यह बात सहीना,
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कवहूं ना॥३०॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानस,
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥३१॥

अपने ही बाधे कर्मो के फल को जिय पाते है
कोई किसी को देता नाही ऋषिगण इम गाते है।
कर विचार ऐसा दृढ मन से जो आतम ध्याते हैं
पर देता सुख दुख यह बुद्धि नहि चित्त मे लाते है॥३१॥

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः,
सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते॥३२॥

जो परमातम सर्व दोष से रहित भिन्न सबसे है,
अमितगति आचारज वदे मन मे ध्यान करे है।
जो कोई नित ध्यावे मन मे अनुभव सार करे है,
श्रेष्ठ मोक्षलक्ष्मी को पाता आनन्द ज्ञान भरे हैं॥३२॥

इति द्वात्रिंशतिवृतैः, परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम्॥३३॥

इन बत्तीस पदन से भविजन परमातम ध्याते है,
मन को कर एकाग्र स्वात्म मे अव्यय पद पाते है।
सुखसागर वर्द्धन के कारण सत अनुभव लाते है,
"सीतल" सामायिक को पाकर भवदधि तर जाते है॥३३॥

४

(अमितगति आचार्य कृत)

सामायिक पाठ

(अनुवादक—श्री युगल जी)

प्रेम भाव हो सब जीवो से, गुणी जनो मे हर्ष प्रभो।
करूणा स्रोत बहे दुखियो पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो॥१॥
यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यो होती तलवार म्यान से वह अनन्त बल दो मुझको॥२॥
सुख-दुख वैरी [illegible] वर्ग मे, काँच कनक मे समता हो।
वन उपवन, [illegible] कुटी मे नहीं खेद, नहि ममता हो॥३॥
जिस सुन्दरतम [illegible] पर चलकर जीते मोहमान मन्मथ।
वह सुन्दर पथ [illegible] प्रभु! मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ॥४॥
एकेन्द्रिय [illegible]द्रिक प्राणी की, यदि मैने हिसा की हो।
शुद्ध ह्यदय [illegible]ता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो॥५॥
मोक्ष मार्ग [illegible]कूल प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायो से।
विपथ-गमन [illegible] कालुष मेरे, मिट जावे सद्भावो से॥६॥
चतुर वैद्य विष [illegible]क्षत करता, त्यों प्रभु! मै भी आदि उपाँत।
अपनी निन्दा [illegible]न से, करता हूँ पापो को शान्त॥७॥
सत्य अहिसादिक [illegible] मे भी, मैने ह्यदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत-प्रवर्त [illegible]रके, शीलाचरण विलीन किया॥८॥
कभी वासना की [illegible]ता का, गहन सलिल मुझ पर छाया।
पी पीकर विषयो [illegible] मदिरा, मुझमे पागलपन आया॥९॥
मैने छली और मायावी, हो असत्य-आचरण किया।
पर निन्दागाली, चुगली जो, मुँहपर आया वमन किया॥१०॥

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विश्व वासना, उपादेय निर्मल आतम॥२३॥
बाह्य जगत कुछ भी नहि मेरा और न बाह्य जगत का मै।
यह निश्चयकर छोड़ बाह्य को,मुक्ति हेतु नितस्वस्थ रमे॥२४॥
अपनी निधि तो अपने मे है, बाह्य वस्तु मे व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे है उसके पुरुषार्थ॥२५॥
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है॥२६॥
तन से जिसका ऐक्य नहीं हो, सुत, तिय मित्रो से कैसे?
चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहे कैसे?॥२७॥
महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़-देह संयोग।
मोक्ष-महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग॥२८॥
जो ससार-पतन के कारण, उन विकल्प जालो को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर फिर लीन उसी में हो॥२९॥
स्वय किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते॥३०॥
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
'पर देता है' यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि॥३१॥
निर्मल, सत्य, शिवं सुन्दर है, 'अमित गति' वह देव महान।
शास्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण॥३२॥

५

सामायिक-भावना

(पं गिरिधर शर्मा)

हो सत्व पै सखिपना, मुद हो गुणी पै,
माध्यस्थ भाव मम होय विरोधियो पै।
दुःखति पे अयि दयाधन! हो दया हो,
हो नाथ! कोमल सदा परिणाम मेरे॥ १ ॥
धारू क्षमा, समृदुता, ऋजुता सदा मै,
त्यो सत्य, शौच, प्रिय सयम भी न त्यागू।
छोड़ू नही तप, अकिंचन, ब्रह्मचर्य्य,
है रत्न राशि दश-लक्षण धर्म मेरा॥ २ ॥
मै देव पूजन करू, गुरू-भक्ति साधू,
स्वाध्याय मे रच सुसयम आदरू मैं।
धारू प्रभो तप निरन्तर दान दू मै,
षट् कर्म मै नित करू जब लो गृही हूँ॥ ३ ॥
पाऊ महा सुख प्रभो, दुःख या उठाऊ,
सोऊ पलंग पर; भूपर ही पडू या।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥ ४ ॥
चाहे रहूँ भवन मे, बन में रहूँ या,
प्रासाद मे बस रहूँ अथवा कुटी में।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥ ५ ॥

सुस्वादु व्यजन सहस्र प्रकार के हों,
आहार हो विरस, या वह भी मिले ना।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी।
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥
सिंहासन प्रचुर रत्न जड़ा प्रभो! हो—
किंवा कठोर तर पत्थर बैठने को।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥७॥
चाहे चलूं मखमली पग पावडों पै,
या तै करूं विकट कंटक-पूर्ण पन्था।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥८॥
सैलून हो, विवध मोटर गाडियां हो,
हो बग्घियां, न पद भी कुछ साथ दें या।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥९॥
मेरी करे भुवन के सब भूप सेवा,
या मैं करूं भुवन के जन की सुसेवा।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥१०॥
श्री देव देव! बहु इष्ट वियोग होवे,
किंवा अनिष्ट कर योग महान होवे।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ! ऐसा॥११॥
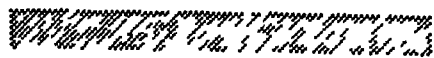
सामायिक स्तवन को जन जो पढ़ेंगे,
संसार के सुख-दुःखोदधि को तरेंगे।
होंगे न कभी न चलमानस धर्मधारी;
श्रीश प्रताप वश सिद्ध उन्हें वरेगी॥ १२ ॥

आत्म चिन्तवन।

(ब्र श्री चुन्नीलाल देसाई)

तू नित्य निरंजन निराकार, चैतन्य ज्योतिमय सुखागार
तू नित्य मुक्त है निर्विकार, सब राग भाव हैं दुःखागार॥ १ ।
तू चिन्मूरति चैतन्य रूप, ये राग भाव सब जड़ स्वरूप
तू तीन लोक का नाथ भूप, ये लख चौरासी योनि कूप॥ २ ॥
तू वीतराग भगवान रूप, ये पर परणित सब भिन्नरूप।
तू निष्कषाय पावन स्वरूप, ये राग भाव है दाह रूप॥ ३ ॥
तू शुद्ध अचिंन दिव्य रूप, विपरीत भाव सब दुःखरूप।
तू लख निज में निजका स्वरूप, ये राग विकार विभावरूप॥ ४ ॥
तू दिव्य मूर्ति ज्योति स्वरूप, त्रय कर्म भि नहीं तुझस्वरूप।
तू निज कर्ता अरु कर्म रूप, अपनत्व बुद्धि पर दुःखरूप॥ ५ ॥
तू ज्ञान चेतना दर्शरूप, नरनारक आदिक भिन्न रूप।
तू निराकुल अविनाशी रूप, मन्द, तीव्रभाव सब परस्वरूप॥ ६ ॥
तू एक अखडानंद रूप, खंड-खंड भाव नहीं आत्मरूप।
तू सब पुद्गल कृत भि रूप, सामान्य शुद्ध चेतन स्वरूप॥ ७ ॥
तू परमें मोहित अन्धरूप, मोह घात करे तुझ चिद्स्वरूप।
तू उनमें फिर आनन्दरूप, अज्ञान मान्यता जगत कूप॥ ८ ॥

तू निज में रहकर पर पिछान, सब राग भाव परज्ञेय जान।
तू निज परमे नहि अश आन, अज्ञान नाश से भेदज्ञान॥९॥
तू निजको निजमें निज पिछान, तब रागनाश वैराग्य आन।
तू उदय संधि में छैनी ठान, प्रज्ञा पैनी समता समान॥१०॥
तू परम समाधि साम्यरूप, मोह क्षोभ रहित वीतरागरूप।
तू शुद्धोपयोगी चिद्स्वरूप, परमात्म तत्त्व अद्वैतरुप॥११॥
तू चिदानन्द ज्ञायक स्वरूप, ध्रुव, अचल, अनुपम, शिवरूप।
तू कर्त्ता, कर्म, क्रिया अभेद, पर करता कहना महा खेद॥१२॥
तू नहीं पर कर्त्ता कर्म रूप, सब द्रव्य भिन्न भिन्न निज स्वरूप।
तू अपने गुण पर्याय रूप, ज्ञाता दृष्टा तू एक रूप॥१३॥
तू समयसार निज का पिछान, दो क्रियावादी मिथ्यात्वी जान।
नहीं उनको जिनमत में श्रद्धान,ऐसा समझो 'चुनि' मतिमान॥१४॥

सामायिक भवतापनाशिनी औषधि

पाक्षिक श्रावकों को सामान्य रूप से अभ्यासरूप सामायिक दो घड़ी (४८ मिनट) करना चाहिए। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल या एक बार अवश्य करें। अभ्यासी मुमुक्षुओं को कभी पर्व का निमित्त पाकर, प्रोषधोपवास; उपवास, एकासन और व्रत के दिनों में एकाग्रचित्त होकर सामायिक करना चाहिए। क्योंकि सामायिक भावतापनाशिनी औषधि है।

अध्याय - द्वितीय

'प्रतिक्रमण एवं आलोचना पाठ'

सर्वसामान्य प्रतिक्रमण आवश्यक

जैन साधक परम्परा मे आत्म-परिष्कार/आ ८ शु
प्रतिक्रमण की प्रक्रिया अनिवार्य मानी गई है।

आचार्य शिरोमणि कुन्दकुन्द ने 'ध्यान' को ही ।तक्र
संज्ञा प्रदान की है, उनका मूल कथन इस प्रकार है—

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुण सत्वदोसाणं
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।

(नियमसार ॥

ध्यान मे लीन साधु सर्व दोषो का परित्याग करते है, ध्यान ही वास्तव मे सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।
प्रतिक्रमण के सामान्यतः 2 भेद है—

(i) निश्चय प्रतिक्रमण

(ii) व्यवहार प्रतिक्रमण

निश्चय प्रतिक्रमण—

पूर्व मे किए हुए जो अनेक प्रकार के विस्तार वाले शुभ कर्म उनसे जो आत्मा स्वय को निवर्तन करता है अर्थात् पीछे है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

अपने शुभाशुभ कर्म का आत्मनिन्दा पूर्वक त्याग भाव अर्थात् आत्मा के ऐसे विशुद्ध परिणाम कि जिनसे अशुभ की निवृति हो, व्यवहार प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के निम्न ६ विभाग हैं—

१. सामायिक

२. तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति

३. वंदन
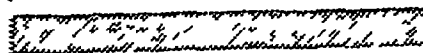
४ प्रतिक्रमण

५ कायोत्सर्ग एव

६ प्रत्याख्यान।

पाठ - १

नमस्कार मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

श्री अरहन्तों को नमस्कार हो, सब सिद्धों को नमस्कार हो, सब आचार्यों को नमस्कार हो, सव उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में विराजमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

सर्वश्रेष्ठ पद में स्थित इन पंच परमेष्ठी का स्वरूप वीतराग विज्ञानमय है।[1]

पाठ - २

वन्दना

पंच परमेष्ठी को दोनों हाथ जोडकर तीन आवर्तन करके स्तुति करता हूँ-नमस्कार करता हूँ। विनय से सत्कार करता हूँ, विवेक पूर्वक सन्मान करता हूँ। हे पूज्य! आप कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, ज्ञानरूप हैं इसलिए मैं आपकी पर्युपासना-सेवा करता हूँ।

---

१. जिज्ञासु जीवों को इनका स्वरूप मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अध्याय से समझना चाहिये।

पाठ - ३

सामायिक

सामायिक समतामय भावो का नाम है। श्री
सामायिक का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

जो समता मे लीन हो, करे अधिक
सकल कर्म वह क्षय करे, पाए शिवपुर पास॥९
सर्वजीव है ज्ञानमय, जाने
वह सामायिक जिन कही, प्रकट करे भवपार॥९
रागद्वेष दो त्यागकरि, धारे समता
सामायिक चारित्र वह, कहे जिनवर मुनिराय॥१०

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिं दिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणो॥१२५॥ (

हिन्दी छाया

सावद्य-विरत त्रिगुप्तिमय अरु पिहित इन्द्रिय जो
स्थायी सामायिक है उसे, यो केवली शासन

अर्थ—जो सर्व सावद्य क्रियाओ से विरक्त होकर तीन
को धारण करके अपनी इन्द्रियो का निरोध करता है, उसको
अर्थात् निश्चय सामायिक होती हैं—ऐसा श्री केवली भगवान ने
में कहा है।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥१२६॥ (

हिन्दी छाया

स्थावर तथा त्रस सर्व जीवसमूह प्रति समता
स्थायी सामायिक है उसे, यो केवली शासन कहे

अर्थ—जो सर्व त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समताभाव वाला है अर्थात् समता भाव रखता है, उसे स्थायी अर्थात् वास्तविक सामायिक होती है। ऐसा श्री केवली भगवान के शासन मे कहा है।

जस्स संणिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥१२७॥ (नियमसार)

हिन्दी छाया

सयम-नियम-तप मे अहो! आत्मा समीप जिसे रहे।
स्थायी सामायिक है उसे, यो केवली शासन कहे॥

अर्थ—जिसे संयम, नियम और तप में आत्मा समीप वर्तता है, उसे स्थायी (खरी) सामायिक होती है। ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिंण जणोइ दु।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे॥१२८॥ (नियमसार)

हिन्दी छाया

नही राग अथवा द्वेष से जो संयमी विकृति लहे।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥

अर्थ—जिसके राग-द्वेष विकार उत्पन्न नहीं होते, उसको स्थायी (खरी) सामायिक होती है—ऐसा केवली के शासन में कहा है।

जो दु अट्ट च रुद्द च झाणं वज्जेदि णिच्चसो।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवली सासणे॥१२९॥
(नियमसार)

हिन्दी छाया

रे आर्त्त-रौद्र दुध्यान का, नित ही जिसे वर्जन रहे।
स्थायी सामायिक है उसे यो केवली शासन कहे॥

हिन्दी छाया

कर इन्द्रियजय ज्ञान स्वभाव रू, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषै स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्ही को।।

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतकर, ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं, उन्हें जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे, वास्तव में जितेन्द्रिय कहते है।

जो मोह तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणसा वेंति।।३२।।

(समयसार)

हिन्दी छाया

कर मोहजय ज्ञानस्वभावरू, अधिक जाने आत्मा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उनहिं जितमोही कहा।।

अर्थ—जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के जानने वाला जितमोह कहते हैं।

जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयाविदूहिं।।३३।।

(समयसार)

हिन्दी छाया

जितमोह साधु पुरुष का जब, मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे।।

अर्थ—जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो तब निश्चय के जानने वाले निश्चय से उस साधु को 'क्षीणमोह' नाम से कहते हैं।

सहित ही सर्व पदार्थ देखने में आते हैं। आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है, क्रिया सम्पन्न है, अत: कर्त्ता है। वह कर्तापना तीन प्रकार से जिनेन्द्रदेव ने बतलाया है। परमार्थ से स्वभाव परिणति के द्वारा "निज स्वरूप का कर्त्ता है।" अनुपचरित व्यवहारनय से वह आत्मा "द्रव्य कर्म का कर्ता है।" उपचरित व्यवहारनय से घट-पटादि का कर्ता है।

चतुर्थ पद — "आत्मा भोक्ता है"

जो-जो कुछ भी क्रिया है, वह-वह सर्व सफल है, निरर्थक नहीं है। जो कुछ करने में आता है, उसका फल भोगने में भी आता है- ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। विष खाने से विष का फल, शक्कर खाने से शक्कर का फल, अग्नि स्पर्श से अग्नि स्पर्श का फल, जिस प्रकार हुए बिना रहता नहीं, उसी प्रकार कषायादि अथवा अकषायादि जिन किन्हीं परिणामों से आत्मा प्रवर्तन करता है - उसका फल भी होने योग्य ही होता है। उस क्रिया का आत्मा कर्त्ता होने से भोक्ता है।

पाँचवा पद — "मोक्षपद है"

जैसे अनुपचरित व्यवहारनय से जीव के कर्म का कर्त्तापना निरूपित किया है। कर्त्तापना होने से भोक्तापना भी निरूपित किया। उन कर्मों का टल जाना भी होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष कषायों का तीव्रपना अनभ्यास से अर्थात् उसका परिचय न होने से, उसका उपशम करने से उनका मन्दपना दिखाई देता है। वे क्षीण होने योग्य दिखाई देती है - क्षीण हो सकती है। वे सब बँधभाव क्षीण होने योग्य होने से उनसे रहित ऐसा जो शुद्ध आत्मस्वभाव उस रूप मोक्षपद है।

छठा पद — "मोक्ष का उपाय है"

जो सदा कर्मबन्ध मात्र हुआ ही करे तो उसकी निवृत्ति कोई काल संभव नहीं हो सकती, पर कर्मबन्ध से विपरीत स्वभाव वाले
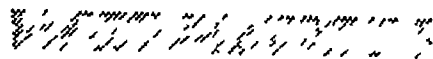
अर्थ—जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेषरहित और अन्य के संयोग से रहित -ऐसे पांच भावरूप से देखता है; उसे, हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥
अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है, वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं॥३४॥
सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है॥

अर्थ—जिससे अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थों को 'पर है' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है -त्याग करता है, उससे, प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियम से जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥३८॥
मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञान दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणु मात्र नही अरे!॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी

हूँ, किंचित मात्र भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नही है - निश्चय है।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवति वण्णमादीया।
गुणठाणता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।५६।।
वर्णादि गुणस्थानात भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नही है, जीव के निश्चय विषै।।

अर्थ—यह वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे है -वे व्यवहारनय से तो जीव के है, किन्तु निश्चयनय के मत उनमे से कोई भी जीव के नहीं है।

जीव पर का कर्त्ता नही है, पर स्वय के भावो का है- यह बताने वाला स्वरूप कहते है—

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्ह पि।।८१।।
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।८२।।
जीव कर्मगुण करता नहीं, नहि जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से, परिणाम दोनो के बने।।
इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्त्ता स्वय निज भाव ही।
पुद्गल करमकृत सर्वभावो का कभी कर्त्ता नही।।

अर्थ—जीव कर्म के गुणों को नहीं करता, उसी तरह जीव के गुणो को नही करता, परन्तु परस्पर निमित्त से दोनो के जानो। इस कारण से आत्मा अपने भाव का कर्त्ता है, परन्तु पुद्गल कर्म से समस्त भावो का कर्त्ता नही

णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।८३।।

आत्मा करे निज को हि ये, मन्तव्य निश्चय नय हि का।
अरू भोगता निज को हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना।।

अर्थ—निश्चयनय का ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है और फिर आत्मा अपने को ही भोगता है। ऐसा हे शिष्य। तू जान।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो।।८९।।

है मोह युक्त उपयोग का परिणाम तीन अनादि का।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरत भाव ये त्रय जानना।।

अर्थ—अनादि से मोह युक्त होने से उपयोग के अनादि से लेकर तीन परिणाम हैं; वे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव जानना चाहिये।

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।९०।।

इससे हि है उपयोग त्रिविध, शुद्ध निर्मलभाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्त्ता बने।।

अर्थ—अनादि से ये तीन प्रकार के परिणाम विकार होने से आत्मा का उपयोग-यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध, निरंजन है; तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस (विकारी) भाव को स्वयं करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है।

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्य।
कम्मत्तं परिणमेद तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।९१।।

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्त्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूप हि परिणमे।।

न होती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है।

जं कुणदिभावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥१२६॥

जिस भाव को आत्मा करे, कर्त्ता बने उस कर्म का।
वो ज्ञानमय है ज्ञानी का, अज्ञानमय अज्ञानी का॥

अर्थ—आत्मा जिस भाव को करता है, उस भावरूप कर्म का वह कर्त्ता होता है, ज्ञानी को तो वह भाव ज्ञानमय है और अज्ञानी को अज्ञानमय है।

कणयमयाभावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादि॥१३०॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३१॥

ज्यों कनकमय को भाव मे से, कुण्डलादिक ऊपजे।
परलोहमय को भाव से, कटकादि भावो नीपजे॥

त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके।
पर ज्ञानि के तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने॥

अर्थ—जैसे सुवर्णमय भाव में से स्वर्णमय कुण्डल इत्यादिभाव होते हैं और लोहमय भाव में से लोहमय कड़ा इत्यादि भाव होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानियों के (अज्ञानमय भाव में से) अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं. और ज्ञानियों के (ज्ञानमय भाव में से) सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।
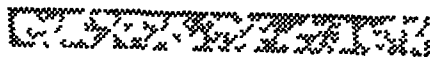
३ पुण्य और पाप का स्वरूप

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसार पवेसेदि॥१४५॥
है कर्म अशुभ कुशील अरु ज़ानो सुशील शुभकर्म को।
किस रीत होय सुशील जो ससार मे दाखिल करे?

अर्थ—अशुभ कर्म कुशील है (बुरा है) और शुभ कर्म है (अच्छा है) ऐसा तुम जानते हो। किन्तु वह (शुभ कर्म) कैसे हो सकता है? जो जीव को संसार में प्रवेश कराता

सोवण्णियं पि णियलं बँधदि कालायसं पि जह
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥१४६
ज्यो लोह की त्यो कनक की जजीर पकडे पुरुष
इस रीत से शुभ या अशुभकृत, कर्म बधे जीव

अर्थ—जैसे सोने की बेडी भी पुरुष को बाँधती है और की भी बाँधती है, इसी प्रकार शुभ तथा अशुभ किया हुआ जीव को बाँधता है।

रत्तो बधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥१५०॥
जीव रागी बाधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ति लहे।
ये जिन प्रभु उपदेश है नहि रक्त हो तू कर्म से॥

अर्थ—रागी जीव कर्म बाधता है और वैराग्य को प्राप्त कर्म से छूटता है - यह जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश है, भव्य जीव। तू कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) में प्रीति/राग मत

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू॥१५२॥

परमार्थ में नहि तिष्ठकर, जो तप करे व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे।।

अर्थ—परमार्थ में अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तप और व्रत को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदति।।१५३।।
व्रत नियम को धारे भले, तप शील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाण प्राप्ति नहिं करे।।

अर्थ—व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य है अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा का जिनको श्रद्धान नहीं हैं, वे निर्वाण को प्राप्त नहीं होते हैं।

४ आस्रव का स्वरूप

जीव में होने वाले विकारी भाव (आस्रव) छोडने लायक हैं- ऐसा बताने वाला स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्ण सण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्ण परिणामा।।१६४।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादि भावकरो।।१६५।।
मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में जीव के अनन्य हि भाव हैं।।
अरु वे हि ज्ञानावरन आदिक, कर्म के कारण बनें।
उनका भी कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करें।।

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरमण कषाय और योग- यह (चेतन के विकार) भी है और असंज्ञ (पुद्गल के व विविध भेद वाले संज्ञ आस्रव -जो कि जीव में उत्पन्न जीव के ही अनन्य परिणाम हैं और असंज्ञ आस्रव ज्ञ न व के कारण (निमित्त) होते है और उनका भी (असज्ञ अ ५ कर्मबन्ध का निमित्त होने मे) रागद्वेषादिभाव करने वाला (निमित्त) होता है।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगोण वरि॥१६
रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहि को बंध
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहि

अर्थ—जीवकृत रागादि युक्त भाव बन्धक (नवीन बंध करने वाला) कहा गया है। रागादि से रहित भाव ८ है, वह मात्र ज्ञायक है।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥७
ये जीव ज्योंहि आस्रवो का, त्यो हि अपने आत्म
जाने विशेषांतर, तब ही बन्धन नहीं उसको ०

अर्थ—जब यह जीव आत्मा का और आस्रवों का भेद जानता है, तब उसे बन्ध नहीं होता।

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥
अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवो का जान
अरु दुःखकारण जान के, इनसे निवर्तन जीव करे॥

अर्थ—आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता तथा कारण हैं ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

५ संवर का स्वरूप

जीव के शुभाशुभ भावों को कैसे रोकना -यह बताने वाला स्वरूप कहते हैं–

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥१८१॥

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषै हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग मे॥

अर्थ–उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं हैं, और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है।

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥१८४॥

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्मउदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे॥१८४॥

अर्थ–जैसे सुवर्ण अग्नि से तप्त होता हुआ भी अपने सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता, इसी प्रकार ज्ञानी कर्मों के उदय से तप्त होता हुआ भी ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता।

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि॥१८६॥

जो शुद्ध जाने आत्म को वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो॥

अर्थ–शुद्ध आत्मा को जानता हुआ - अनुभव करता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ - अनुभव करता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

संवर किस प्रकार होता है? वह कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्ण पाव
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥१

जो सव्वसंग मुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो
ण वि कम्म णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८

शुभ अशुभ से जो रोककर निजआत्म को आत्मा
दर्शन अवरू ज्ञानहि ठहर, परद्रव्य इच्छा

जो सर्वसगविमुक्त, ध्यावे आत्म से आत्मा हि
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व

वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी
बस अल्पकाल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म

अर्थ—आत्मा को आत्मा के द्वारा दो पुण्य पापरूपी योगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा (इच्छा रहित ह सर्वसंग से रहित होता हुआ अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा है और कर्म तथा नोकर्म नहीं ध्याता एवं चेतयिता (ज्ञाता से) एकत्व का ही चिन्तवन करता है -अनुभव करता है, वह (आत्मा को ध्याता हुआ दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय होता अल्पकाल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है
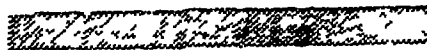
६ निर्जरा का स्वरूप

संवर पूर्वक जो पूर्व के विकारी भावों को तथा पूर्व में बांधे हुए कर्मों को टालता (निर्जरित) है, उसे निर्जरा कहते हैं। उसको बताने वाला स्वरूप कहते हैं।

उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णि दो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणग भावो दु अहमेक्को॥१९८॥
कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नही, मैं एक ज्ञायक भाव हूँ॥

अर्थ—कर्मों के उदय का विपाक (फल) जिनेन्द्र देव ने अनेक प्रकार का कहा है, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायक भाव हूँ।

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो॥२००॥
सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायक स्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता।

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को (अपने को) ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है।

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥
इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥

अर्थ—हे भव्यात्मा! तू इस ज्ञान स्वभाव में नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

ज्ञानी अपने आत्मा को ही निश्चय से अपना परिग्र
है, पर-द्रव्य रूप परिग्रह को अपना नहीं मानता है -इ.
कथन करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छे
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूँ
मैं निश्चय से ज्ञाता हि, इससे नाहि परिग्रह मुझ

अर्थ—यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीव
प्राप्त हो जाऊँ। परन्तु मैं तो सदा ज्ञाता ही हूँ, इसलिए
परिग्रह मेरा कदापि नहीं है। अर्थात् परद्रव्य को चाहे कोई
हो, परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है, स्वद्रव्यरूप परिग्रह ही

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८

सम्यक्त्वी जीव होते निःशंकित इसहि से निर्भय
है सप्तभय प्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए नि
हैं क्योंकि वे सप्तभयों से रहित होते हैं, इसलिए (वे) निः
हैं।

निःशंकित गुण—

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२२९॥

जो कर्मबन्धन मोहकर्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना॥

अर्थ—जो चेतयिता, कर्मबन्ध सम्बंधी मोह करने वाले
जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बन्धा हुआ है -ऐसा भ्रम करन

मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को छेदता है, उसको निःशक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

निःकांक्षित गुण—

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२३०॥
जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥

अर्थ—जो चेतयिता कर्मों के फलों के प्रति तथा सब धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

निर्विचिकित्सा गुण—

जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२३१॥
सब वस्तुधर्म विषै जुगुप्सा भाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना॥

अर्थ—जो चेतयिता सभी धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता उसको निश्चय से निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

अमूढ़दृष्टि अंग—

जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२३२॥
संमूढ़ नहिं सब भाव में जो, सत्यदृष्टि धारता।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना॥

अर्थ—जो चेतयिता समस्त भावों मे अमूढ़ है -यथार्थ दृष्टि वाला है, उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

उपगूहन गुण—

जो सिद्धभक्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्व
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२
जो सिद्धभक्ति सहित है, गोपन करे सब
चिन्मूर्ति वो उपगूहन कर, सम्यक्त्वदृष्टि

अर्थ—जो चेतयिता सिद्धो की (शुद्धत्मा की)
है और परवस्तुओ के सर्व धर्मो को गोपने वाला है अर्थात्
मे युक्त नहीं होता, उसको उपमूहन करने वाला
चाहिये।

स्थितिकरण गुण—

उम्मग्गं गच्छतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३
उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग मे जो
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टि

अर्थ—जो चेतयिता उन्मार्ग मे जाते हुए अपने
भी मार्ग मे स्थापित करता है, वह स्थितिकरणयुक्त
चाहिये।

वात्सल्य गुण—

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्ह साहूण
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३५
जो मोक्षपथ मे 'साधु' जय का वत्सलत्व करे
चिन्मूर्त्ति वो वात्सल्ययुक्त, सम्यक्दृष्टि जानना

अर्थ—जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दर्शन-
रूपी तीन साधको-साधनों के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य,
और मुनि -इनके प्रति) वात्सल्य करता है। वह वात्सल्य
युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।
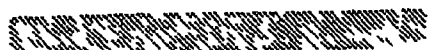
प्रभावना गुण—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाण पहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२३६॥
चिन्मूर्ति मन-रथ पंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टि जानना।

अर्थ—जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) भ्रमण करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

७ बंध का स्वरूप

जीव के मोह-राग द्वेषादिभावों से बंध होता है। वह बंध सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य है -यह स्पष्ट करने वाला स्वरूप कहते है—

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रागादि उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण॥२४१॥
चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रजहि से लेपाय वो॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीवात्मा अपने उपयोग में बहुत प्रकार की चेष्टाओं में वर्तता हुआ रागादि भावों को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है -बँधता है।

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥२४७॥
जो मानता - मैं मारूँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है॥
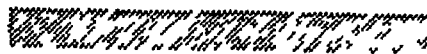
अर्थ—जो यह मानता है कि 'मैं पर जीवों को और पर जीव मुझे मारते हैं' वह मूढं (मोही) है, अज्ञानी इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता) वह ज्ञानी है।

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।२५९।

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अवरु सुखी करूँ हूँ जीव को'
वो मूढमति तेरी अरे! शुभ अशुभ बाधे कर्म को।

अर्थ—तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीवों को दुखी करता हूँ यह तेरी मूढ़बुद्धि ही शुभाशुभ कर्म को बाँधती

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।

मारो न मारो जीव को, है बध्र अध्यवसान से।
यह आत्मा के बध्र का, सक्षेप निश्चयनय विषै।।

अर्थ—जीवों को मारो अथवा न मारो -कर्मबन्ध से ही होता है। यह निश्चयनय से जीवों के बध्र का संक्षेप

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।२६५।।

जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु आश्रित वो बने।
पर वस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है।।

अर्थ—जीवों के जो अध्यवसान होता है, वह वस्तु को कर होता है, तथापि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से बंध होता है।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।

इन आदि अध्यवसान विधविध वर्तते नहिं जिनहि को।
शुभ अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों॥

अर्थ—यह (पूर्वकथित) तथा ऐसे और भी अध्यवसान (मिथ्या विकल्प) जिनके नहीं हैं, वे मुनि अशुभ-शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसण चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥२७७॥
मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है॥

अर्थ—निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (समाधि, ध्यान) है।

८ मोक्ष का स्वरूप

पूर्ण सुख-शांतिमय दशा का नाम मोक्ष है। मोक्ष दशा में जीवात्मा सवकर्मबधन से विमुक्त होकर स्वाधीन, स्वतंत्र एवं सुखी बन जाता है। इसका स्वरूप जिनेन्द्र भगवान के कथनानुसार प्रतिपादित किया जा रहा है—

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि॥२९३॥
रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्धन मे हि विरक्त होवे, कर्म मोक्ष करे अहा॥

अर्थ—बन्धों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जान कर बन्धों के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।
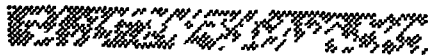
९ सर्वविशुद्धज्ञानस्वरूप

परमशुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्व भोक्तृत्व के भावों से रहित है, बन्धमोक्ष की रचना से रहित है, समस्त परभावों से रहित होने से शुद्ध है, निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है -ऐसे सर्वविशुद्ध ज्ञान का स्वरूप का कथन करते हैं—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥३२०॥

ज्यों नेत्र, त्यो ही ज्ञान नहिं कारक, नही वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यो ही मोक्ष को॥

अर्थ—जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता -भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है) उसी प्रकार ज्ञान अकारक तथा अवेदक है और बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता ही है।

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएणदु णय मह परमाणुमित्तमवि किंचि॥३२४॥

व्यवहारमूढ अतत्त्वविद परद्रव्य को मेरा कहे।
"अणुमात्र भी मेरा न" ज्ञानी जानता निश्चय हि से॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है, ऐसे पुरुष व्यवहार के वचनों को ग्रहण करके 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा कहते, परन्तु ज्ञानी जन निश्चय से जानते हैं कि 'कोई परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है'।

पावन सीख - जिनेन्द्र प्रभु की

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु॥४१२॥
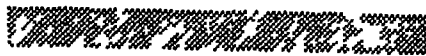
तू स्थाप निज को मोक्ष पथ मे, ध्या अनुभव तू
उसमे हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य

अर्थ—हे भव्यात्मा! तू मोक्षमार्ग मे अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी मे विहार कर, अन्य द्रव्यो मे विहार मत कर।

पाठ - ७

अब मोक्षमार्ग का दूसरा रत्न सम्यग्ज्ञान है, इसलिए उसमे लगे हुए दोष का प्रतिक्रमण कहते है—

मई सुई ओही मणपज्जव तहा केवल च पंचमयं
जे जे विराहिया खलु मिच्छा मि दुक्कड तस्स ॥२७

अर्थ—हे भगवान! मैने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान इन पांच प्रकार के ज्ञानो मे से किसी ज्ञान की विराधना की होय, आशातना की होय, उस मेरे सब पाप मिथ्या हो।

पाठ - ८

बारह प्रकार के व्रतों का स्वरूप

१. हिंसा का स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत।
अनृत वचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥

अर्थ—आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों को घातने वाले वह सम्पूर्ण हिंसा है। असत्यवचनादि भेद मात्र शिष्यो को समझाने के लिए उदाहरणरूप कहा है।

१. श्रावकप्रतिक्रमण प. नन्दलाल कृत
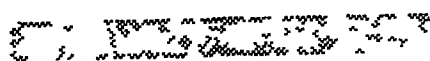
यत्खलु कषाय योगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।।

अर्थ—यथार्थ में कषाय सहित योगों से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का घात करना वह प्रसिद्ध रूप से निश्चित हिंसा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषाभिवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

अर्थ—आत्मा मे रागादिक भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है और रागादिक भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। यह जिनागम का संक्षेप में रहस्य है।

२ असत्य का स्वरूप

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्कारः।।

अर्थ—प्रमाद कषाय योग में जुडान रहने से जो कुछ भी असत् कथन करने में आवे वह वास्तव में असत्य जानना चाहिये।

३ चोरी का स्वरूप

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।।

अर्थ—प्रमादकषाय में जुडान होने से बिना दिया सोना, वस्त्र वगैरह परिग्रह को ग्रहण करना उसको चोरी कहते हैं और वह बंध का कारण होने से हिंसा है।

४. अब्रह्मचर्य का स्वरूप

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।।

अर्थ—पुरुषवेद, स्त्रीवेद व नपुंसकवेद रूप राग से जु ते जिसको मैथुन कहते है, वह अब्रह्मचर्य है और उसमे वध होने से हिंसा होती है।

५ परिग्रह का स्वरूप

या मूर्च्छानामेय विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः॥

अर्थ—जो मूर्च्छा है, उसे ही परिग्रह जानना चा॰- मोहनीय कर्म के उदय मे जुड़ान होने से उत्पन्न होने वाले परिणाम वह मूर्च्छा है।

ऊपर कहे गये जो पाँच अव्रत है, उनका त्याग है। श्रावको के एकदेश त्याग होता है और इनके त्यागी को कहा जाता है। श्रावको को इनका त्याग करना चाहिये जिससे सम्यक्त्व व व्रत मे दूषण न लगे।

६ दिग्व्रत का स्वरूप

प्रविधाय सुप्रसिद्धै मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्योः दिग्भ्यः कर्त्तव्य विरतिरविचलिता॥

अर्थ—समस्त दिशाओ मे प्रसिद्ध ग्राम, नदी, भिन्न-भिन्न स्थानो तक की मर्यादा करके पूर्वादि दिशाओ मे बाहर गमन नहीं करने की प्रतिज्ञा करना चाहिये।

७ देशव्रत का स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥

अर्थ—दिग्व्रत मे की हुई मर्यादा मे से भी गाँव, बाजार, म गली वगैरह का परिमाण करके मर्यादा वाले क्षेत्र के बाहर का । समय तक त्याग करना चाहिये।

८ अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदार गमन चौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥

अर्थ—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का कोई भी समय चिन्तवन नहीं करना, क्योंकि इन सब खोटे ध्यानों का फल पाप ही है।

९ सामायिक व्रत का स्वरूप

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्व्य।
तत्त्वोपलब्धि मूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥

अर्थ—समस्त पदार्थों के प्रति रागद्वेष का त्याग करके समताभाव को अंगीकार करके आत्मतत्त्व की स्थिरता का मूल कारण ऐसी सामायिक बारम्बार करनी चाहिये।

१० प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप

मुक्त समस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृण्हीयान्ममत्वमपहाय देहादौ॥
श्रित्वा विविक्त वसतिं समस्त सावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थ विरतः कायनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्॥

अर्थ—समस्त आरंभ से मुक्त होकर शरीरादिक में आत्मबुद्धि को त्यागकर प्रोषध के दिन के पहले दिन से दोपहर से उपवास करना और प्रोषध के दिन एकान्त स्थान में रहकर सम्पूर्ण सावद्ययोग को छोड़कर, सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तीन गुप्ति में स्थिर होकर धर्मध्यान में दिन व्यतीत करना प्रोषधोपवास व्रत है।

११. भोगोपभोग परिमाण व्रत

भोगोपभोगामूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥
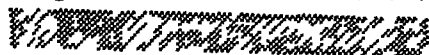
अर्थ—श्रावक के भोग-उपभोग के निमित्त से हिंसा
अत वस्तु का स्वरूप जानकर अपनी शक्ति के अनुसार
छोड़ना चाहिये।

१२. अतिथिसंविभाग व्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरू
स्वपरानुग्रहहेतो कर्त्तव्योऽवश्यतिथये भा।

अर्थ—दातार के गुण धारण करने वाले गृहस्थ
अतिथि को (निर्ग्रन्थ मुनि को) स्व और पर के उपकार हेतु
वस्तु विधिपूर्वक देना, यह आवश्यक कर्त्तव्य है।

(यह वर्णन आचार्य अमृतचन्द्र कृत पुरुषार्थ ...
के आधार से किया था।)

पाठ - ९

सल्लेखना

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखना कार ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं श ल
मरणेऽवश्यंभाविनि कषाय ल्लखन ुक ग
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात ।

अर्थ—मरणकाल में मैं अवश्य विधिपूर्वक स । मर
इस प्रकार की भावना रूप परिणति करके मरणकाल आने
ही यह सल्लेखना व्रत प्राप्त करना चाहिये।

मरण तो अवश्य होने से कषाय को सम्यक् प्रकार
के व्यापार में प्रवर्तमान पुरुष को रागादिभावों के असद्भाव
आत्मघात नहीं है।

पाठ - १०

मिथ्यात्व का स्वरूप

प्रश्न-मिथ्यात्व किसे कहते हैं?

उत्तर-मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में जुडान होने से कुदेव में देवबुद्धि कुगुरू में गुरूबुद्धि, कुशास्त्र में शास्त्रबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, कुधर्म में धर्मबुद्धि, इत्यादि विपरीताभिनिवेश (अभिप्राय) रूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व के ५ भेद हैं—

(१) एकांत मिथ्यात्व (२) विपरीत मिथ्यात्व (३) सांशयिक मिथ्यात्व (४) अज्ञानिक मिथ्यात्व (५) वैनयिक मिथ्यात्व।

१. एकान्तिक मिथ्यात्व

पदार्थ का स्वरूप अनेक धर्मवाला होने पर भी उस को सर्वथा एक धर्मवाला मानना -यह एकान्तिक मिथ्यात्व है। जैसे कि आत्मा को सर्वथा क्षणिक अथवा सर्वथा नित्य मानना।

२. विपरीत मिथ्यात्व

द्रव्य/वस्तु/पदार्थ का स्वरूप जिस प्रकार है उससे विपरीत मान्यता रूप विपरीत रूचि को विपरीत-मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—शरीर को आत्मा मानना, सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली के स्वरूप को विपरीत मानना।

३. सांशयिक (संशय) मिथ्यात्व

आत्मा स्वयं के कार्य का कर्ता है कि परपदार्थ के कार्य का कर्ता होता है -इत्यादि प्रकार से संशय रहना, उसे सांशयिक (संशय) मिथ्यात्व कहते हैं।

४. अज्ञान मिथ्यात्व

जहाँ हित-अहित विवेक का कोई भी सद्‌भाव न हो उसको अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे कि पशुवध को अथवा हिंसादि पाप

को धर्म समझना।

५ विनय मिथ्यात्व

समस्त देवो और समस्त मतों मे समदर्शिपना (
मानना उसको विनय (वैनयिक) मिथ्यात्व कहते है।

उपरोक्त प्रकार के मिथ्यात्व का स्वरूप समझकर
को सर्वप्रथम अनत ससार का प्रधान कारणभूत मिथ्यात्व
ही परित्याग करना चाहिये। इसको छोडे बिना धर्म
नहीं होती है।

पाठ - ११

चार मंगल

चत्तारि मगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मगल,
केवलिपण्णत्तो धम्मो मगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा
लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहंते सरण पव्वज्जामि,
पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं
पव्वज्जामि।

लोक मे चार मगल है। अरहत भगवान मंगल
भगवान मगल हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु)
केवली भगवान द्वारा बताया गया वीतराग-धर्म मगल है

लोक में चार उत्तम हैं। अरहंत भगवान उत्तम
भगवान उत्तम हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु)
तया केवली भगवान द्वारा बताया गया वीतराग-धर्म

मैं चारो की शरण में जाता हूँ। अरहंत भगवान की शरण में जाता हूँ, सिद्ध भगवान की शरण में जाता हूँ, साधुओं (आचार्य, उपाध्याय और साधु) की शरण में जाता हूँ और केवली भगवान द्वारा बताया गया वीतराग-धर्म की शरण में जाता हूँ।

पाठ - १२

क्षमापना

हे भगवान। मैंने बड़ी भूल की जो कि आपके अमूल्य वचनों को लक्ष में नहीं लिया। मैंने आपके कहे हुए अमूल्य तत्त्वों का विचार भी किया नहीं मैंने आपके बताये हुए उत्तम-शील स्वभाव का सेवन नहीं किया। मैंने आपके कहे हुए दया, शांति, क्षमा व पवित्रता को पहिचाना ही नहीं।

हे भगवान! मैं भूल गया, मेरी भूल से ही भ्रमण किया, रुला और अनन्त संसार की विडंबना में पड़ा हूँ। कर्म-कलंक का संग करने से भावकर्म से मलिन हूँ। हे विरागी भगवान्! आपके बतलाये हुए तत्त्व का ग्रहण किये विना मेरा कल्याण नहीं हो सकता।

प्रभु! मैं निरंतर प्रपंच में पड़ा हूँ। अज्ञान से अन्ध हो रहा हूँ, मेरे में विवेक-शक्ति नहीं, मैं मूढ़ हो रहा हूँ। मैं निराश्रित अनाथ हूँ। हे निरागी परमात्मा! अब मैं आपका व आपके बतलाये हुए धर्म का व गुरुओं का शरण ग्रहण करता हूँ। मेरे अपराध क्षय हों। मैं सर्व पापों से मुक्त होऊं, ऐसी मेरी भावना है, अभिलाषा है। पूर्व में किये हुए पापों का मैं पश्चाताप करता हूँ।

जितना-जितना मैं सूक्ष्म विचारों में गहरा उतरता हूँ, उतना-उतना आपके तत्त्वों के चमत्कार मेरे स्वरूप का प्रकाश करते है, आप विरागी, निर्विकारी, सच्चिदानन्द, सहजानन्दी, अनन्त ज्ञानी,

अनन्तदर्शी और त्रैलोक्य प्रकाशक हो। ऐसी ही शक्ति
यह भाव आपके द्वारा प्रकाशित है। मैं आपके कहे हुए
रहूँ। यही मेरी आकांक्षा तथा वृति रहे-यही भावना

हे सर्वज्ञ प्रभु! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ?
बात छिपी हुई नही है। आपके कहे हुए तत्त्वों मे
आपके बतलाये हुए मार्ग में मैं रहूँ। हे सर्वज्ञ भगवान
विशेष क्या कहूँ, आप मेरे सर्व दोषो को जानते हो।
कर मैं कर्मजन्य पापों की क्षमा चाहता हूँ।

ॐ शांति-शांति-शांति

श्री सीमधर स्वामी, श्री युगमधर स्वामी, श्री
सुबाहु स्वामी, श्री सजातक स्वामी, श्री स्वयप्रभ स्वामी,
स्वामी, श्री अनन्तवीर्य स्वामी, श्री सूरप्रभ स्वामी, श्री
स्वामी, श्री वज्रधर स्वामी, श्री चन्द्रानन स्वामी, श्री
श्री भुजगम स्वामी, श्री ईश्वर स्वामी, श्री नेमप्रभ स्वामी,
स्वामी, श्री महाभद्र स्वामी, श्री देवयश स्वामी, और
स्वामी इन नाम के धारक पचमेरू सम्बन्धी विदेह क्षेत्र में
वर्तमान मे विराजमान हैं -उनको मेरा नमस्कार हो।

उनके प्रति तथा श्री अरिहन्त, श्री सिद्ध भगवान,
महाराज, श्री उपाध्याय महाराज तथा श्री निर्ग्रंथ मुनिराज
जी के प्रति तथा श्रावक-श्राविकाओं के प्रति किसी भी तरह
आशातना, अभक्ति, अपराध किया हो, उसके लिए मैं
हूँ।

चौरासी लाख जीवयोनियो मे मैने एकेन्द्रिय,
चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय आदि जिस किसी भी जीव का
हनन कराया हो और हनन करने वाले की अनुमोदना

मेरे सर्व दुष्कृत्य मिथ्या हों। किसी भी जीव का विराधन, परितापन और उपघात स्वयं किया हो, अन्य से कराया हो, स्वयं करते हुए अन्य की अनुमोदना की हो तत्सम्बंधी मेरा समस्त दुष्कृत मिथ्या हो, निष्फल हो।

(यहां कायोत्सर्ग करना)

पाठ १३

चतुर्विंशतिस्तवन

चतुर्विंशतिस्तवः

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलीअणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महापण्णे॥१॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मतित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो॥२॥
उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे॥३॥
सुविहं च पुप्फयंतं सीयल सेयंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंत भयवं धम्मं संतिं च वंदामि॥४॥
कुन्थुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तहं पासं वड्ढमाणं च॥५॥
एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु॥६॥
कित्तिय वंदिय महिया एए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं॥७॥

चंदेहि णिम्मलयरा आइच्चेहि अहिय
सायरमिव गभीरा सिद्धा सिद्धि मम दिर्सतु ॥८

हिन्दी अर्थ– जो देशजिन ऐसे गणधर आदि मे
अनन्तससार को जिन्होने जीत लिया है अथवा जो
अनत जिन है, मनुष्यो मे सर्वोत्कृष्ट जो चक्रवर्ती आदि
जो पूज्य है, जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनावरण रुप मल
किया है, जो पूज्यता को प्राप्त हुए है, ऐसे तीर्थङ्करो
करता हूँ॥१॥

जो केवलज्ञान द्वारा लोक का प्रकाश करने वाले
क्षमा आदि दशलक्षण धर्मरूप तीर्थ के कर्त्ता हैं, कर्मरूप
जीतने वाले है अथवा केलवज्ञान से समन्वित है ऐसे
का वन्दनापूर्वक निज-निज नाम सहित कीर्त्तन करता हूँ॥

ऋषभ, अजित, सभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ,
और चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर भगवन्तो की वन्दना करता हूँ॥३

सुविधि द्वितीय नाम पुषपदन्त, शीतल, श्रेयास,
विमल, अनन्त, धर्म और शातिनाथ भगवान की वन्दना करता

तथा कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि,
और वर्धमान जिनवरेन्द्र भगवन्तो की वन्दना करता हूँ॥

इस तरह मेरे द्वारा स्तवन किये गये, रजोमल से
और मरण से हीन, तथा देशजिनो मे श्रेष्ठ २४ तीर्थङ्कर मुझ
पर प्रसन्न होवे॥६॥

वचनो से कीर्त्तन किये गये, मन से वन्दना किये
से पूजे गये ऐसे ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिनेन्द्र मुझे
समाधि और बोधि प्रदान करे॥७॥

सम्पूर्ण आवरणों के नष्ट हो जाने से चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल, सम्पूर्ण लोक का उद्योत करने वाले केवलज्ञानरूप प्रभा से समन्वित होने से सूर्य से भी अधिक प्रभासमान तथा अलक्षमाण गुणरूप रत्नों से परिपूर्ण होने से सागर के समान गम्भीर ऐसे सिद्ध परमात्मा मुझ स्तवक को सर्वकर्मविप्रमोक्ष रूप सिद्धि देवें।

(यहां कायोत्सर्ग करना)

पाठ १४

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का स्वरूप

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे, वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे, वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े, वह आत्मा आलोचना है। इनका स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥३८३॥

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा॥३८४॥

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा॥३८५॥

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जोय।
णिच्चं आलोचेयदि सो दु चरित्तं हवदि चेदा॥३८६॥

शुभ और अशुभ अनेकविध के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्म को, वो आतमा प्रतिक्रमण है॥३८३॥

शुभ अरु अशुभ भावी करम का बंध हो जिन व
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है॥३८

शुभ और अशुभ अनेकविध है उदित जो इस काल
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है॥३८

पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि
नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है॥३८

अर्थ—पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तारवाला (ना
शुभाशुभ कर्म है, उससे जो आत्मा अपने को दूर रखता
आत्मा प्रतिक्रमण करता है।

भविष्यकाल का जो शुभाशुभ जिस भाव मे बँधता
भाव से जो आत्मा निवृत होता है, वह आत्मा

वर्तमान काल मे उदयागत जो अनेक प्रकार के व..
शुभ और अशुभ कर्म है, उस दोष को जो आत्मा चेतता है-
से जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्त्व-कर्त्तव्य को छोड
वह आत्मा वास्तव में आलोचना है। जो सदा प्रत्याख्यान क
सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह
वास्तव में चारित्र है।

अर्थात् निश्चय से विचार करने पर जो आत्मा न
कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और
करता है वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही
है, स्वय ही आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप,
और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरंतर अनुभवन ही निश्चय
है। जो निश्चय चारित्र है, वही ज्ञानचेतना है। उसी ज्ञान
साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता

प्रतिक्रमण विधि—

प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि—

जो मैंने (अतीतकाल में कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुए अथवा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने (पूर्व मे) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

जो मैंने (अतीतकाल मे) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने (पूर्व मे) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने (पूर्व मे) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

इस प्रकार मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से भूतकाल में कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ। अर्थात् भूतकाल में किये हुए कर्म को मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे - प्रतिक्रमण की यह विधि है।

इसी तरह आलोचना की विधि है—

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से।

प्रत्याख्यान की विधि—

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काया से।

समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की शुद्धोपयोग मे रहना सो प्रत्याख्यान है।

व्यवहारचारित्र मे तो प्रतिज्ञा मे जो दोष लगता प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है। यहाँ की प्रधानता से कथन है, इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत आत्मा के दोषस्वरूप है।

प्रतिक्रमण के सात भेद—

१ दैवसिक प्रतिक्रमण- समस्त दिन की प्रवृत्ति को सध्या चिन्तवन करके पाप परिणामो सो दैवसिक प्रतिक्रमण है।

२ रात्रिक प्रतिक्रमण- रात्रि सम्बन्धी पाप को दूर करने प्रभात प्रतिक्रमण करना सो प्रतिक्रमण है।

३. ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण- मार्ग मे चलने मे दोष लगे हो शुद्धि का जो प्रतिक्रमण सो प्रतिक्रमण है।

४. पाक्षिक प्रतिक्रमण- एक पक्ष के दोष के निराकरण पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

५. चतुर्मासिक प्रतिक्रमण- चार मास के दोष के निराकरण जो प्रतिक्रमण सो चतुर्मासिक है।

६ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण- एक वर्ष के दोष के निराकरण सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

७ उत्तमार्थ प्रतिक्रमण- समस्त पर्याय के काल का दोष के लिए अन्त्य सन्यासमरण की

में जो प्रतिक्रमण है सो उत्तमार्थ
प्रतिक्रमण है।

पंचमकाल मे प्रतिक्रमण ही परमागम मे धर्म कहा है। आत्मा के हित-अहित के विचार मे निरन्तर उद्यमी रहना चाहिये। यह प्रतिक्रमण आत्मा की बडी सावधानी करने वाला है और पूर्व मे किए हुए पापों की निर्जरा करने वाला है।

प्रतिक्रमण के समापन पर

(आत्मसिद्धि शास्त्र से उद्धत महत्वपूर्ण दोहे)

जिन स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनन्त।
उन विज्ञायक-पद नमूँ, श्री सद्‌गुरु भगवन्त॥ १ ॥

वैराग्यादि सफल तब, जो सह आतमज्ञान।
आतमज्ञान की, प्राप्ति सुहेत निदान॥ ६ ॥

त्याग विराग न चित्त में, होय न उनके ज्ञान।
अटके त्याग विराग मे, तो भूले निजभान॥ ७ ॥

सेवे सद्‌गुरु चरण को, त्याग देय निज पक्ष।
पावे वह परमार्थ को, निज पद को ले लक्ष॥ ९ ॥

सद्‌गुरु के उपदेश बिन, समझे नही जिनरूप।
समझे बिन कल्याण क्या? समझे हो जिनरूप॥ १२ ॥

स्वच्छन्द मत आग्रह तजौ, वरतै सद्‌गुरु लक्ष।
समकित उसको भासते, कारण जानि प्रत्यक्ष॥ १७ ॥

मानादिक शत्रु महा, निज छन्दे न मराय।
जाते सद्‌गुरु चरण में, अल्प प्रयासे जाय॥ १८ ॥
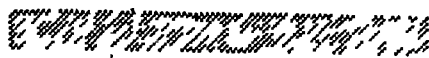
लिया स्वरूप न वृत्ति का, किया व्रत
लहे नही परमार्थ को, लेते लौकिक मान॥

अथवा निश्चयनय ग्रहै, मात्र शब्द के
लोपे सद्व्यवहार को, साधनरहित रहाहि॥

ज्ञानदशा पायी नही, साधनदशा न
जो सगति उनकी लहे, भव मे डूबे सोय॥३

नही कषाय उपशान्तता, नहि अन्तर
सरलपना न मध्यस्थता, वह मतार्थि दुर्भाग्य॥३

एक होय त्रयकाल मे, परमारथ का
प्रेरे जो परमार्थ को, वह व्यवहार समत॥३

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष
भवभीरू-प्राणीदया, वहा आत्मार्थ निवास॥३

दिखे देहाध्यास से, आत्मा देह
पर वे दोनो भिन्न है, लक्षण से हो भान॥

सर्व अवस्था मे वही, न्यारा सदा
प्रगट रूप चैतन्यमय, लक्षण यही सदाय॥५

घट पटादि तू जानता, उससे उनको
ज्ञायक को जाने न तू, कहिये कैसा ज्ञान॥५

जो सयोग विलोकिये, वह वह अनुभव
उपजे नहि संयोग से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष॥६

जड से चेतन उपजता, चेतन से जड
ऐसा अनुभव किसी को, कभी कही नहि होय॥६

कर्मभाव अज्ञान है, मोक्षभाव निजवास।
अंधकार अज्ञान सम, नाशत ज्ञान प्रकाश॥९८॥

जो जो कारण बंध के, वही बन्ध के पन्थ।
उन कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भव-अन्त॥९९॥

रागद्वेष अज्ञान वह, मुख्य कर्म की ग्रन्थ।
जिससे होय निवृत्तिपन, वही मोक्ष का पन्थ॥१००॥

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभास विहीन।
जिससे केवल पाइये, मोक्षपंथ समचीन॥१०१॥

मत दर्शन का पक्ष तज, वर्ते सद्गुरु लक्ष।
लहे शुद्ध सम्यक्त्व वह,जिसमे भेद न पक्ष॥११०॥

वर्धमान सम्यक्त्व से, टाले मिथ्याभास।
उदय होत चारित्र का, वीतराग-पद वास॥११२॥

केवल आत्मस्वभाव का, अखण्ड वर्ते ज्ञान।
कहिये केवलज्ञान वह, देहस्थ भी निर्वाण॥११३॥

कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जागे तुरत विलाय।
वैसेअनादि विभाव भी, ज्ञान हुए मिट जाय॥११४॥

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तू कर्म।
उसका भोक्ता तू नहीं, यही धर्म का मर्म॥११५॥

इसी धर्म से मोक्ष है, तू है मोक्ष स्वरूप।
अनन्त दर्शन-ज्ञान तूं, अव्याबाध स्वरूप॥११६॥

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।
और कहें हम कहाँ तक, कर विचार तो पाम॥११७॥

मोक्ष कही निज शुद्धता, जो पाए
समझाया सक्षेप मे, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥
आत्म भ्रान्ति सम रोग नहि सद्गुरु वैद्य
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं,औषधचिन्तन ध्यान॥
जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य
भवस्थिति आदिक नाम ले, छेदो नहि आत्मार्थ॥
सर्व जीव है सिद्ध सम, जो समझे
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण होय॥
दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग,
होत मुमुक्ष हृदय मे, वही सदैव सुजाग॥
सफल जगत उच्छिष्टवत् अथवा स्वप्न
वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान॥
देहस्थित जिनकी दशा, वर्ते
उस ज्ञानी के चरण मे, हो वन्दन अगणित॥

आलोचना पाठ

बंदो पाँचों परम-गुरु, चौबीसों
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरनके काज॥

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये
तिनकी अब निवृत्ति काज, तुम सरन लही

इक बे ते चउ इंद्री वा, मनरहित सहित जे
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वैं घात

समरंभ समारंभ आरम्भ, मन वच तन कीने प्रारम्भ।
कृत कारित मोदन करिकैं, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं॥४॥
शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परिछेदनतै।
तिनकी कहुँ कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी॥५॥
विपरीत एकांत विनयके, संशय अज्ञान कुनयके।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहीने॥६॥
कुगुरनकी सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी।
याविधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुँगति मधि दोष उपायो॥७॥
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनितासों दृग जोरी।
आरम्भ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो॥८॥
सपरस रसना घ्रानतको, चखु कान विषय-सेवनको।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने॥९॥
फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये।
नहिं अष्ट मूलगुण धारी, विसनन सेये दुखकारी॥१०॥
दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निस दिन भुजाये।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यो करि उदर भरायो॥११॥
अनन्तानु जु बधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो।
संज्वलन चौकरी गुनिये, सब भेद जु षोडश सुनिये॥१२॥
परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग।
पनवीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम॥१३॥
निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विष-फल खायो॥१४॥
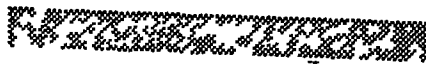
आहार विहार निहारा, इनमे नहि जतन
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधी वस्तु जु
तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप
कछु सुधिबुधि नाहिं रही है, मिथ्यामति छाय गयी
मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहूँमे दोष
भिन भिन अब कैसै कहिये, तुम ज्ञानविषै सब
हा हा! मै दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि
थावरकी जतन न कीनी, उरमे करुना नहि
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागा
पुनि बिन गाल्यो जल ढोल्यो, पखातै पवन
हा हा! मै अदयाचारी, बहु हरितकाय जु
तामधि जीवन के खदा, हम खाये धरि
हा हा! परमाद बसाई, बिन देखे
तामधि जे जीव जु आये, ते हू परलोक
बीध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोधि
झाडू ले जाँगा बुहारी, चिवटी आदिक जीव
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि
नहि जल-थानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप
जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसनके जीव
अन्नादिक शोध कराई, तामै जु जीव
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारैं धूप

पुनि द्रव्य कमावन काज, बहु आरम्भ हिंसा साज।
किये तिसनावश अघ भारी, करुना नहि रंच विचारी।।२६।।
इत्यादिक माप अनन्ता, हम कीने श्री भगवता।
सतति चिरकाल उपाई, वानी तैं कहिय न जाई।।२७।।
ताको जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो।
फल भुजत जिय दुख पावै, वचतैं कैसे करि गावै।।२८।।
तुम जानत केवलज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन विरद सही है।।२९।।
जो गाँवपती इक होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवनके स्वामी, दुख मेटहु अतरजामी।।३०।।
द्रोपदिको चीर बढ़ायो, सीताप्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुख मेटचो अंतरजामी।।३१।।
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोषरहित करि स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी।।३२।।
इंद्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनिमें नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज-पद दीजै।।३३।।
दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ै, आनन्द मंगल होय।।३४।।
अनुभव माणिक पारखी, 'जौहरि' आप जिनन्द।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरण शरन आनन्द।।३५।।

अध्याय तृतीय

समाधिमरण

1

समाधिमरण स्वरूप - फल, विधि एवं

समाधिपूर्वक मरण

समाधि नाम निःकषाय का है, शान्त परिणामों का
रहित शांत परिणामो से मरण होना समाधिमरण है।

देह के स्वत छूटने, छुडाने तथा त्यागने को
हैं, जिसका आयु क्षय के साथ घनिष्ठ सम्बध है। जो
एक न एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह
से क्यों न हो। ऐसा कोई भी प्राणी संसार के
जो जन्म लेकर मरण को प्राप्त न हुआ हो।

ऐसी स्थिति में जो विवेकी है, जिन्होंने देह और
अन्तर को भले प्रकार से समझ लिया है, उन्हें मरण से
नही लगता। उन्हें पता है कि जीवात्मा अलग है और
है, दोनों स्वभावत एक-दूसरे से भिन्न हैं, जीवात्मा कभी
मरण देह का होता है, जीव एक शरीर को छोडकर
उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले-
जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्यागकर नया वस्त्र धारण किया जाता
हानि की कोई बात नही, यह तो एक प्रकार से आनन्द
है और इसलिए ज्ञानीपुरुष भय, शोक तथा सक्लेशादि से
सावधानी के साथ देह का त्याग करते हैं। इस
के त्याग को समाधि-मरण कहते हैं। मरणका 'समाधि'
मरण को उस मरण से भिन्न कर देता है जो साधारण
का अन्त आने पर प्राय संसारी जीवों के साथ घटित होता
आयु का स्वत अन्त न आने पर भी क्रोधादिक के

मोह से पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी) के रूप में उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें आत्मा की कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती। समाधि-पूर्वक मरण में आत्मा की प्राय पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायों के आवेश में कुछ नहीं किया जाता, प्रत्युत इसके उन्हें जीता जाता है तथा चित्त की शुद्धि को स्थिर किया जाता है और इसीसे कषाय तथा काय के संलेखन— कृषीकरण रूप में इस समाधिमरण का दूसरा नाम 'सल्लेखना-मरण' भी है, जिसे आमतौर पर 'सल्लेखना' कहते हैं। यह सल्लेखना चूँकि 'मारणान्तिकी' होती है—मरण का अवश्यम्भावी होना जब प्राय. निश्चित हो जाता है, तब की जाती है—इसलिए इसे 'अन्तक्रिया' भी कहते हैं। जो कि जीवन के अन्त में की जानेवाली आत्म-विकास-साधना-क्रिया के रूप में एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिये अपघात, खुदकुशी जैसे—अपराधों की सीमा से बाहर की वस्तु है।

यह समाधिमरण अर्थात् सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयम की संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन संस्कृति में 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीनों बलों के संयोग का नाम जन्म है और उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकार का है। एक नित्यमरण और दूसरा तद्भवमरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्यमरण है और उत्तरपर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्वपर्याय का नाश होना तद्भवमरण है। तद्भवमरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही पर्याय के अन्त में 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए भगवती आराधना में लिखते हैं—
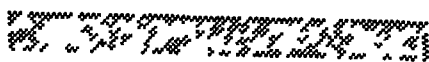
चेतन-अचेतन-कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिक को दूर करने का जब कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्त को पाकर एक मनुष्य सल्लेखना का अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा—उपाय के सम्भव और सशक्य होने पर—वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं होता।

दूसरा 'धर्माय' पद दो दृष्टियों को लिए हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्म की रक्षा-पालना की और दूसरी आत्मीय धर्म की यथाशक्य साधना-आराधना की। धर्म की रक्षादिके अर्थ शरीर के त्याग की बात सामान्य रूप से कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है; पर जब शरीर को स्थिर रखने अथवा उसके अस्तित्व से धर्म के पालन में बाधा का पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्म की रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर हो जाता है।

आचार्य सकलकीर्ति ने 'समाधिमरणोत्साहदीपक' ग्रन्थ में इस बात का निरुपण करते हैं कि कैसी अवस्था में और क्यों समाधिमरण अंगीकार करना चाहिए-

"इन्द्रियों की शक्ति मन्द हो जाने पर, अतिवृद्धपना आ जाने पर, उपसर्ग आने पर, व्रत का क्षय होने पर, देशव्यापी महान दुर्भिक्ष पडने पर, असाध्य तीव्र रोग के आने पर, शारीरिक बल के क्षीण होने पर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करने की शक्ति उत्तरोत्तर हीन होने पर बुद्धिमानों को चाहिये कि आत्म कल्याण के लिए सन्यास विधि से मृत्यु को सिद्ध करें—सल्लेखना विधि से समाधिमरण अंगीकार करें।"

सल्लेखनावस्था में उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्ध में भी जैनलेखकों ने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्र ने सल्लेखना की निम्न प्रकार विधि बतलाई है-

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओ में
वस्तुओ मे द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनो मे ममत्व और
का त्याग करके मन को शुद्ध बनाये। इसके पश्चात्
तथा सम्बन्धित व्यक्तियो से जीवन मे हुए अपराधो
और स्वय भी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।
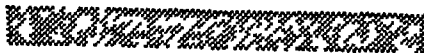
इसके अनन्तर वह स्वय किये, दूसरो से कराये
किये हिंसादि पापो की निश्छल भाव से आलोचना (उनपर
करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतो का अपने मे आरोप

इसके अतिरिक्त आत्मा को निर्बल बनाने
अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म-
परित्याग कर दे तथा आत्मवल एव उत्साह को प्रकट
शास्त्र-वचनो द्वारा मन को प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषाय को शान्त अथवा क्षीण
को भी कृष करने के लिए सल्लेखना मे प्रथमत
फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का त्याग करे।
कांजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे।

अन्त में उन्हें भी छोडकर शक्तिपूर्वक
तरह उपवास करते एवं पचपरमेष्ठी का ध्यान करते
के साथ सावधानी मे शरीर को छोडे।"

सल्लेखना के भेद-

जैन शास्त्रो मे शरीर का त्याग तीन तरह से
है। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१ च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वत
वह च्युत कहलाता है।

२ च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय,
शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल प्रवेश, गिरि-

निमित्तकारणों से शरीर छोड़ा जाता है, वह च्यावित कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की आसन्नता ज्ञात होने पर जो विवेकसहित सन्यासरूप परिणामों से शरीर छोडा जाता है, वह त्यक्त है।

इन तीन तरह के शरीर-त्यागों में त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था मे आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई सक्लेश परिणाम नहीं होता।

इस त्यक्त शरीर-त्याग को ही समाधि-मरण, सन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है;—१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्याग में अन्न-पान को धीरे-धीरे कम्म करते हुए छोड़ा जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से नीचे का काल है, इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओं से राग-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है।

२. इंगिनी—जिस शरीर-त्याग में क्षपक अपने शरीर की सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरे से नहीं कराता, उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वय बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है।

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्याग में इस सल्लेखना का धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीर को लकडी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर
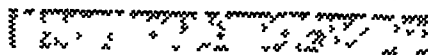
ही क्षपक का लक्ष्य रहता है और आत्मा के ध्यान में ही रत रहता है। इस सल्लेखना को साधक तभी धारण करता वह अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है और उसका संहनन बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना के दो भेद-

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरह की १. सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और (२) अविचार-भक्त प्र सविचार-भक्त प्रत्याख्यान में आराधक अपने संघ को छो संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में जाती है। इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के। उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे साव प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधक की आ नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा दूसरे संघ में समय नहीं है और न शक्ति है वह मु अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी ती १.निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परम निरुद्ध।

सामान्य मरण की अपेक्षा समाधिमरण की

आचार्य शिवार्य ने मरण के १७ भेदों का उल्लेख क विशिष्ट पाँच प्रकार के मरण भेदों का वर्णन (पण्डित-पण्डितमरण, पण्डित मरण, बालपण्डित मरण, बा बाल-बाल मरण) तीन मरणों को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय है। वे तीन मरण ये हैं—पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित म पण्डित मरण।

पाँच प्रकार के मरण के स्वामी-

१. पण्डित-पण्डित मरण १४ गुणस्थानवर्ती अयोग केवली

का निर्वाण गमन पण्डित-पण्डित मरण है।

२. पण्डित मरण— प्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती साधु मुनि का मरण पण्डित मरण है।

३. बाल पण्डित मरण— विरताविरत पंचम गुण स्थानवर्ती देशव्रती श्रावक का मरण बालपण्डित मरण है।

४. बाल मरण— अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों का मरण बाल मरण है।

५. बाल-बाल मरण— सम्यक्त्वव्रत रहित मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण बाल-बाल मरण है।

जिन पुरूषों ने इस मनुष्यभव में समाधिमरण किया है, उनके ही तप, ध्यान और व्रतादिक सफल होते हैं। आचार्य सकलकीर्ति कहते हैं- जो कायर पुरुष समाधिमरण की विराधना करते हैं, उनकी निश्चय से दुर्गति होती है, आत्मा का अभीष्ट प्रयोजन नष्ट हो जाता है और संसार दीर्घ हो जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन में समाधिपूर्वक मरण का विशेष महत्व तो है ही। लोक मे भी 'अन्तसमा सो समा', 'अन्तमता सोमता' और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्यों के द्वारा इसी अन्तक्रिया के महत्व को स्थापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनों के लिए ही उपादेय है।

एकान्तवास साधक के लिए श्रेयस्कर

कुटुम्बरूपी काजल की कोठरी में रहने से संसार बढ़ता है। चाहे जितना उसका सुधार करो, तो भी एकान्तवास से जितना क्षय होने वाला है उसका सौवां हिस्सा भी उस काजल की कोठरी में होने वाला नहीं हैं। वह कषाय का निमित्त है, मोह के रहने का अनादिकालीन पर्वत है। सुधार करते हुए कदाचित् सम्यग्दर्शन होना सम्भव है। इसलिए वहाँ अल्पभाषी होना, अल्प परिचयी होना, अल्प सत्कारी होना, अल्प सहचारी होना, अपने परिणाम का विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

(श्रीमद् राजचन्द)

धन धरती जो मुख सो माँगे, सो सब दे सन्तोषे।
छहों काय के प्रानी ऊपर, करूणा भाव विशेषे।
उंच नीच घर बैठ जगह इक, कुछ भोजन कुछ पयले।
दूध धारी क्रम क्रम तज के, छाछ अहार गहेले॥६॥

छाछ त्यागि के पानी राखे पानी तजि सथारा।
भूमि माँहि फिर आसन माँडै साधर्मी ढ़िग प्यारा॥
जब तुम जानो यहै जपै है तब जिनवाणी पढ़िये।
यो कहि मौन लेय सन्यासो पंच परम पद गहिये॥७॥

चौ आराधन मन में ध्यावै बारह भावन भावै।
दशलक्षण मय धर्म विचारै रत्नत्रय मन ल्यावै॥
पैंतीस सोलह पट पन चौइक दुई तूँ बरन विचारै।
काया तेरी दुख की ढेरी ज्ञानमयी तूँ सारैं॥८॥

अजर अमर निज गुण सो पूरै परमानन्द सुभावै।
आनन्द कन्द चिदानन्द साहब तीन जगतपति ध्यावे॥
क्षुधा तृषादिक होय परीषह सहै भाव सम राखै।
अतीचार पाँचो सब त्यागै ज्ञान सुधारस चाखै॥९॥

हाड़ माँस सब सूखि जाय जब धरम लीन तन त्यागै।
अद्भुत पुण्य उपाय सुरग मे सेज उठै ज्यो जागै॥
तहँते आवे शिवपद पावे बिलसै सुक्ख अनन्तो।
'द्यानत' यह गति होय हमारी जैन धरम जयवन्तो॥१०॥

समाधि भावना

तर्ज़—द. शिवज्योति

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जा।

शत्रू अगर कोई हो, सन्तुष्ट उन
समता का भाव धर कर सबसे क्षमा कर

त्यागूँ अहार पानी, औषध विचार
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में ल

जागे नहीं कषाये, नहि वेदना
तुमसे ही लौ लगी हो, दुरध्यान को भग।

आतम स्वरूप अथवा, आराधना
अरहंत सिद्ध साधू रटना यही लग।

धरमातमा निकट हो, चरचा धर
वो सावधान रक्खे गाफिल न होने प

जीने की हो न वांछा मरने की हो न
परिवार मित्र जन से, मैं मोह को हट।

भोगे जो भोग पहिले, उनका न होवे
मैं राज्य सम्पदा या पद इन्द्र का न च

रत्नत्रय का पालन, हो अन्त में
शिवदास प्रार्थना यह, जीवन सफल बना।

समाधिमरण पाठ

कविवर—श्री सूरजचन्दजी

बदौ श्रीअरहंत परमगुरू, जो सब को सुखदाई।
इस जग मे दुख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई॥
अब मै अरज करूँ प्रभु तुमसे, कर समाधि उर मांही।
अन्तसमय मे यह वर मौंगू, सो दीजै जगराई॥१॥

भव भव मे तनधार नये मै, भव भव शुभ संग पायो।
भव भव में नृपरिद्धि लई मै मात पिता सुत थायो॥
भव भव मे तन पुरुषतनों धर, नारी हूँ तन लीनो।
भव भव में मैं भयो नपुंसक, आतमगुण नहि चीनों॥२॥

भव भव में सुरपदवी पाई, ताके सुख अति भोगे।
भव भव मे गति नरकतनी धर, दुख पाये विधि योगे।
भव भव मे तिर्यंच योनि धर, पायो दुख अति भारी।
भव भव में साधर्मी जनको, संग मिल्यो हितकारी॥३॥

भव भव मे जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहि दीनो।
भव भव मे मैं समवसरण में, देख्यो जिनगुण भीनो॥
एती वस्तु मिली भव भव मे, सम्यकगुण नहि पायो।
ना समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो॥४॥

काल अनादि भयो जग भ्रमते, सदा कुमरणहि कीनो।
एक बार हूँ सम्यक युत मैं, निज आतम नहि चीनों॥
जो निज पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुख कांई।
देह विनासी मै निजभासी, जोतिस्वरूप सदाई॥५॥

विषयकषायन के वश होकर देह
कर मिथ्या सरधान हियेविच, आतम नाहि
यो क्लेश हिय धार मरणकर, चारो
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन ये, हिरदे मे नहि
अब या अरज करूँ प्रभु सुनिये, मरण समय
रोगजनित पीड़ा मत होवो, अरु कषाय
ये मुझ मरणसमय दुखदाता, इन हर
जो समाधि युत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यागद
यह तन सात कुधातमई है, देखत ही
चर्मलपेटी ऊपर सोहै, भीतर
अतिदुर्गन्धि अपावनसो यह, मूरख
देह विनासी जिय अविनाशी, नित्य स्वरूप
यह तन जीर्ण कुटीसम आतम, यातै
नूतन महल मिले जब भाई, तब यामै
मृत्यु होनसे हानि कौन है, याको भय
समता से देह तजोगे, तो शुभतन तुम
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस
जीरन तन से देत नयो यह, या सम
या सेती इस मृत्युसमय पर, उत्सव अति
क्लेश भाव को त्याग सयाने समताभाव
जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको
मृत्युमित्र बिन कौन दिखावै,
रागरोष को छोड़ सयाने, सात
अन्त समय मे समता धारो, परभव पथ
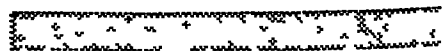
कर्म महादुठ बैरी मेरो, ता सेती दुख पावै।
तन पिंजर मे बंद कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै।।
भूख तृषा दुख आदि अनेकन, इस ही तन में गाढे।
मृत्युराज अब आय दयाकर, तनपिंजरसो काढै।।१२।।
नाना वस्त्राभूषण मैने इस तन को पहराये।
गध सुगधित अतर लगाये, षटरस अशन कराये।।
रात दिना मै दास होयकर, सेव करी तनकेरी।
सो तन मेरे काम न आयो, भूल रह्यो निधि मेरी।।१३।।
मृत्युरायको शरन पाय, तन नूतन ऐसो पाऊँ।
जामै सम्यकरतन तीन लहि, आठो कर्म खपाऊँ।।
देखो तन सम और कृतघ्नी, नाहि सु या जगमाही।
मृत्यु समय में ये ही परिजन, सब ही है दुखदाई।।१४।।
यह सब मोह बढावनहारे, जियको दुर्गति दाता।
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता।।
मृत्यु कल्पद्रुम पाय सयाने मॉंगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो पावो सम्पति तेती।।१५।।
चौआराधन सहित प्राण तज, तौ ये पदवी पावो।
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्गमुकति में जावो।।
मृत्युकल्पद्रुम सम नहि दाता, तीनों लोक मझारे।
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जबाहर हारे।।१६।।
इस तन मैं क्या राचै जियरा, दिन-दिन जीरन हो है।
तेजकांति बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है।।
पॉंचो इद्री शिथिल भई अब, श्वास शुद्ध नहिं आवै।
तापर भी ममता नहिं छोडै, समता उर नहिं लावै।।१७।।

स्वर्ग सम्पदा तपसो पावै, तपसो कर्म नसावै।
तपही सो शिव कामिनिपति है, यासों तप चित लावै॥
अब मैं जानी समता विन मुझ, कोऊ नाहिं सहाई।
मात पिता सुत बाँधव तिरिया, ये सब है दुखदाई॥२४॥
मृत्यु समय में मोह करे ये, तातै आरत हो है।
आरततै गति नीची पावै, यों लख मोह तज्यो है॥
और परिग्रह जेते जग में, तिनसो प्रीति न कीजे।
पर भवमैं ये संग न चालै, नाहक आरत छीजे॥२५॥
जे जे वस्तु लखत है ते पर, तिन सों, नेह निवारो।
पर गति में ये साथ न चालै, ऐसे भाव विचारो॥
जो परभव में सग चले तुझ, तिनसो प्रीत सु कीजे।
पंच पाप तज समता धारो, दान चार विध दीजे॥२६॥
दशलक्षण मय धर्म धरो उर, अनुकम्पा उर लावो।
षोडश कारण नित्य विचारो, द्वादश, भावन भावो॥
चारौं परवी प्रोषध कीजे, अशन रात को त्यागो।
समता धर दुरभाव विनाशों, संयम सो अनुरागो॥२७॥
अत समय मे यह शुभ भाव ही, होवैं आनि सहाई।
स्वर्ग मोक्ष फल तोहि दिखावै, ऋद्धि देहि अधिकाई॥
खोटे भाव सकल जिय त्यागो, उरमैं समता लाकैं।
जा सेती गति चार दूरकर, बसहु मोक्षपुर जाकैं॥२८॥
मनथिरता करके तुम चितो, चौ आराधन भाई।
ये ही तोकों सुख की दाता, और हितू कोउ नाहीं॥
आगैं बहु मुनिराज भये है, तिन गहि थिरता भारी।
बहु उपसर्ग सहे शुभ भावन, आराधन उर धारी॥२९॥
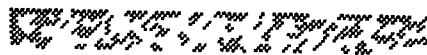
तिनमै कछु इक नाम कहूँ मै, सो सुन
भाव सहित अनुमोदे तासो, दुर्गति
अरु समता निज उर मे आवै, भाव
यो निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये

धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे
एक श्यालनी जुगल बच्चा जुत, पाँव
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता,
तो तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु

धन्य-धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री
तौ भी श्रीमुनि नेक डिगे नहि, आतम
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी।

देखो गजमुनि के शिर ऊपर, विप्र
शीश जलै जिम लकड़ी तिनको, तो भी
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी।

सनत कुमार मुनि के तन मे, कुष्ट
छिन्न भिन्न तन तासो हूवो, तब
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी।

श्रेणिकसुत गगा मे डूब्यो, तब जिन
धर सलेखना परिग्रह छोड्यो, शुद्ध भाव
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी।

समतभद्र मुनिवर के तन मे,
तौ दु.ख मे मुनि नेक न डिगियो, चित्यो
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता आराधन चितधारी।

ललितघटादिक तीस दोय मुनि, कौशाबी तट जानो।
नद्दी में मुनि बहकर मूवे, सो दुःख उन नहिं मानो।
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥३७॥
धर्मघोष मुनि चपानगरी, बाह्य ध्यान धर ठाढो।
एक मास की कर मर्यादा, तृषा दुःख सह गाढो॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥३८॥
श्रीदत्तमुनि को पूर्वजन्म को, वैरी देव सु आके।
विक्रिय कर दुःख शीततनो सो, सह्यो साधु मन लाके॥
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥३९॥
वृषभ सेन मुनि काकदीपुर, महा वेदना पाई।
वैरी चडने सब तन छेद्यो, दुःख दीनो अधिकाई॥
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥४१॥
विद्युतचरने बहु दुःख पायो, तौ भी धीर न त्यागी।
शुभ भावनसो प्राण तजे निज, धन्य और बडभागी।
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥४२॥
पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घाता।
मोटे-मोटे कीट पड़े तन, तापर निज गुण राता॥
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥४३॥
दंडक नामा मुनि की देही, बाणन कर अरि भेदी।
ता पर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥४४॥
अभिनन्दन मुनि आदि पाँचसौ, घानी पेलि जुमारे।
तौ भी श्री मुनि समता धारी, पूरबकर्म विचारे॥
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी। तौ तुमरे॥४५॥
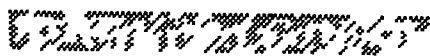
चाणक मुनि गौघर के माही, मूँद
श्री गुरु उर समभाव धारकर, अपनो रूप
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी। तौ
सातशतक मुनिवर दुःख पायो,
बलि ब्राह्मण कृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ
लोह मयी आभूषण गढ के, ताते क
पाँचो पाण्डव मुनि के तन मे, तो भी न
यह उपसर्ग सह्यो धरथिरता, आराधन चितधारी। तौ
और अनेक भये इस जग मे, समता रस
वे ही हमको हो सुखदाता, हर है
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण तप, ये
ये ही मोको सुख की दाता, इन्हे सदा उर
यो समाधि उरमाही लाबो, अपनों हित
तज ममता अरु आठो मदको, जोति
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामाँतर
सो भी सकुन विचारे नीके, शुभ के कारण
मात पितादिक सर्व कुटुम सब, नीके
हलदी धनिया पुगी अक्षत, दूब दही
एक ग्राम जाने के कारण, करै
जब परगति को करत पयानो, तब नहि सोचौ
सर्व कुटुम जब रोवन लागै, तोहि
ये अपशकुन करै सुन तोको, तू यों क्यूँ
अब परगतिको चालत बिरियाँ, धर्म ध्यान
चारों आराधन आराधों, मोहतनो दु

होय निःशल्य तजो सब दुविधा, आतम राम सुध्यावो।
जब परगति को करहु पयानो, परम तत्व उर लावो॥
मोह जाल को काट पियारे, अपनो रूप विचारो।
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यों उर निश्चय धारो॥५३॥

मृत्यु महोत्सव पाठको, पढ़ो सुनो बुधिवान।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द शिवथान॥५४॥
पच उभय नव एक नव, संबत सो सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मन लाय॥५५॥

१३ समाधि दीपक

(कविवर—श्री दीनदयालजी)

समाधि मरण किसको कहते हैं—

रत्नत्रय बाधा पड़े, संकट ऐसो आय।
देह त्याग वह साधना, समाधि मरण कहाय॥१॥
धर्म नशे चारित नशे, सत दर्शन अरु ज्ञान।
निश्चय हो, तन त्यागवो, पण्डित मरण सुजान॥२॥

समाधि मरण कब करना चाहिए—

जरा अकाल रोग अरु, अग्नि नीर उत्पात।
मारि काट उपसर्ग सब, दीखैं हरते गात॥३॥
मगं भूले वन ना मिले, नाव नीर में कष्ट।
वायुयान आकाश में, होता देखे नष्ट॥४॥
गिरि बालू हिमखण्ड सब, संकट नाहिं उपाय।
धर्म राखि तन त्याग नर, पण्डित मरण कराय॥५॥
सर्प डसे नाहर भखे, असुर उपद्रव लाय।
अनटलने संकट सभी, समाधि मरण लहाय॥६॥

समाधि मरण में कर्त्तव्य—

पाच पाप को त्याग कर, अपनी शक्ति समान।
घर तिष्ठा मुनि सम रहे, धारे धैर्य महान॥१७॥

रोगादिक सब वेदना, सहे वीरता धार।
बाहिर प्रकट ना करे, चर्चा धर्म अपार॥१८॥

ममता आतम कारणो, मिथ्यात्वी दुख पाय।
लखि वियोग को निकट मे, सम्यक्त्वी हुलसाय॥१९॥

समाधिमरण करने वाले को 'मृत्यु को महोत्सव' मानना—

नही भयो सम्यक मरण, मरो अनन्ते बार।
एक बार जो होत फिर, क्यों आतो संसार॥२०॥

सम्यक्त्वी सोचे यही, मृत्यु महोत्सव मान।
मृत्यु विन सुख ना मिले, क्यो न महोत्सव जान॥२१॥

आत्मा को समझना—

ज्ञान गात तेरा अमित, हाड़ मास तन नाहि।
इनके विनशत मत डरे, समझ सोच मन माहि॥२२॥

जो मृत्यु देवे सही, नूतन दिव्य शरीर।
जर्जर दुखित शरीर को, तजते क्यो भय पीर? ॥२३॥

आयु पूर्ण हो उदय नव, गमन आत्म का होय।
चौ आराधन शरण गहि, रोक सके नहि कोय॥२४॥

दुःख सहे है गर्भ से, रोग शोक फिर आय।
देह जेल दुख मेंटने, मृत्यु एक ही उपाय॥२५॥

मृत्यु से भयभीत क्यो? सोच जीव, सुन लेय।
हितू मौत सम जग नहीं, सुख सम्पत्ति तन देय॥२६॥

भव बाधा को मेटने, मृत्यु एक
जिन चूको अवसर यही, पावे दुःख ।४।५
सुख दुख का ज्ञाता तुही, तुही चत
तन जो तेरा है नही, छोड़त क्यो दुख ।
मोह देह से त्याग कर, सहले दुख,
निश्चय ये सब देयगे, स्वर्ग मोक्ष सुख ॥
भव से मोही जीव ही, मृत्यु से
वैरागी ज्ञानी वही, हुलसे लाभ ७०।
रोगादिक संताप जो, उपजे तन के
मोह नाश के अर्थ है, सुख अनेक ७५७॥
ममता कर इस देह से, जन्मो व।
पाये दुःख अनेक सब, गिनत न आवे ७ ॰
अबै फेरि अवसर मिलो, चूकूं जो इ
ममता दुख की देह से ले कुयोनियो ७॥
रोगादिक जितने सवै, उपजे हैं म
सोचे ममता मारने, धर्म चिताने ७।५
अशुभ उदय जब मन्द हो, औषधि कछु
मरना फिर हू होयगा, चिन्ता व्यर्थ क२५
किये कर्म बिन फल दिये, छूटत ह।
कायरता से क्यो सहे? बिगड़ उभय भव ७॥६

उत्तम समाधि मरण धारण करने वालों के कुछ .

अब सुनियो दृष्टान्त कछु, साधु जनो
सहे कष्ट सल्लेखना, हरे दुःख सब ताप

करो ध्यान अस संत का, जीते कष्ट अनेक।
होय लीन आराधना, पाये सुख प्रत्येक॥३८॥
तीन दिवस लो स्यालनी, भख्यो पाव सुकमाल।
घोर सहो उपसर्ग मुनि, साध्यो अर्थ विशाल॥३९॥
परम धैर्य धारण करो, तुमहू मन समझाय।
उनकी जैसी वेदना, नाहिं आपकी काय॥४०॥
बैरी ठोके कील तन, गजकुमार मुनिराज।
तोहू नैकहु ना डिगे, तुम भी साधो काज॥४१॥
सनत्कुमार मुनिराज के, रोग भये अति जोर।
सही वेदना साल शत, तोय निकट है छोर॥४२॥
धर्मघोष मुनिराज को, प्यास तीव्र उपवास।
तजे प्राण आराधना, तू मत होय निराश॥४३॥
बैरी छेद्यो अङ्ग सब, अभय घोष मुनिराज।
साध्यो अर्थ अटूट रहि, नम्बम तेरो आज॥४४॥
अनगिनती ऐसे भये, सही वेदना घोर।
डिगे न व्रत से नैक हूँ, पढो शास्त्र दिल बोर॥४५॥

समाधिमरण की आवश्यकता—

सफल वही तप, जिन कहे, अन्त समाधि पयान।
भूली नहि सन्यास सो, स्वर्ग मोक्ष की खान॥४६॥

समाधिमरण के अतिचार—

इच्छा जीवन मरण अरु, भय परलोक निदान।
मित्र स्मृति यो पाच हैं, अतिचार जिन मान॥४७॥

समाधिमरण की महिमा—

रत्नत्रय को पालते, समाधि मरण कराय।
सर्व दुखों को टालते, स्वर्ग मोक्ष पद पाय॥४८॥

परम समाधि

(कवि – श्री [illegible])
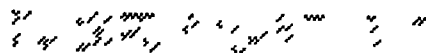
परम समाधि लगाय कर, कर्म कलंक जल
भये सिद्धि परमात्मा, वन्दू मन वच काय।।
राग द्वेष विकल्प रहित, स्वातम मे रत
स्थिरता, निर्विघ्नता, पाय महा सुख पाय।।
स्वातम रस आस्वादता, अनुभव ही सुख
स्वयंसंवेदन ज्ञान घन, शिवपुर देय मिलाय।।
दर्शन ज्ञान, चरित्र को, प्रीति सहित अपना
च्युत ना होय स्वभाव से, 'लय' समाधि को पाय।।
ज्ञानशक्ति को जानकर, बहु विधि करै वि
ज्ञान चेतना का धनी, निज को लेय चितार।।
चारित्र रथ पे बैठकर, निज मे थिरता प
कर्म कालिमा धोयकर, भवदुख जाय नशाय।।
वीतराग आनन्द मय, समरस भाव सुख
सो समाधि उत्तम कही, सब दुःख हरदे बार।।
स्वातम रूप विचार मे, जो थिरता दृढ़ ज
निज स्वभाव विश्राम पा, सब दुख जाय नशाय।।
तर्क रहित निज पद लगन, लीन ब्रह्म मे ज
कर्म कालिमा धोय कर, शिव मग गामी होय।।
रागादिक जड़ काट कर, उपजा सहज सम।।
भाव विशुद्धि पायकर, शिव मारग ले साधि।।१
चिन्मय मे तन्मय हुआ, पर पद अब नहिं भा
विमल चरित के खेल से, मन की ममता जाय।।११

जैसे वर्षा मेघ की, शाति जगत की देय।
त्यो आतम आनन्द घन, साधक दु:ख हर लेय।।१२।।
धर्म मेघ वर्षा भई, सब गुण शुद्ध प्रतीत।
यथाख्यात चारित्र में, चारित्र भया पुनीत।।१३।।
पर का वेदन मिट चुका, निज वेदन सुखदाय।
चार चतुष्टय प्राप्त कर, 'अरहत' पदवी पाय।।१४।।
परम शुद्ध जिनवर भये, पाया अविचल धाम।
लोक शिखर पर जा बसे, रहा न जग से काम।।१५।।
लोकालोक समस्त को, एक समय लू देख।
ऐसी मुझ में शक्ति है, किया न निश्चय नेक।।१६।।
इन्द्रिय मन मुनिराज के, चचलता नहि पाइ।
जहां लगाना चाहि मन, तहां लगा वो पांइ।।१७।।
कर्म नाश का हर घड़ी, मुनि जन करे उपाय।
स्वातम का आश्रय करें, सो है ध्यान 'अपाय'।।१८।।
सात तत्त्व का चिन्तवन, हित-अनहित का ज्ञान।
आश्रव, बध अहित समझि, हितकर संवर जान।।१९।।
सम्यक अपने रूप में, जब तन्मय हो जाय।
चिन्मय, उज्जल, ज्ञानघन, ज्योति प्रगट हो जाय।।२०।।
आश्रय भाव निरोध कर, सवृत आत्म स्वभाव।
ज्ञान ज्ञान में लीन हो, शुद्ध भाव सद्भाव।।२१।।
हुये, होइगे, हो रहे, जो भवि सिद्ध अनन्त।
समकित महिमा जानकर, धारण करो निशक।।२२।।
दर्श ज्ञान चारित्र मे, जो जिय तन्मय होय।
स्थिरता को पायकर, कर्म कालिमा धोय।।२३।।
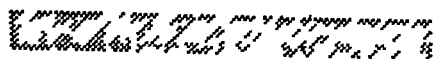
नित्यानन्द स्वरूप शुद्ध, आतम अनुभव
अनुपम सुख को पायकर, रस नीरस हो जाय।।२
दर्श, ज्ञान, चारित्र युत, आतम प्रीति
अन्य सर्व से मोह तज, निरमोही हो जाय।।२
घटा राग पर वस्तु से, तौ तप से क्या क
घटै नहीं अनुराग जो, तौ तप से क्या काम।।२
चिंता तज के मोक्ष की, ज्ञानी आतम
पर पदार्थ के त्याग की, बात कहा से आय।।२
अमृत सम यह तत्त्व है, ज्ञानी पीवै ज
अजर, अमर पदवी लहै, जग छुटकारा पाय।।२
छोड़कर पर भाव को, निज भाव का आश्रय
शुभभाव भी दे त्याग कर, शुद्धात्म का चिंतन करै।।२
प्रकृति-स्थित बन्ध अरु, अनुभाग बन्ध प्रदेश
जो रहित सो मै आतमा, यो चिंतकर थिरता लहे।।३
शुभ-अशुभ भावो से रहित, चैतन्य की शुद्ध
संसार रोग अनादि को, औषधि समझ आलोचना।।३
मन, वचन, तन व्योपार तज, संयम, नियम, तप
दुरध्यान तज, शुद्धभावरत, निश्चय समाधी है उसे।।३
जो पुण्य-पाप विभाव तज, सब विधि कषायों को त
निज भाव मे तल्लीनता, स्थायी सामायक वहै।।३
जो अन्य के बस हो नहीं, शुभ-अशुभ चिंतन को
द्रव्य, गुण, पर्याय चिंतन, छोड़कर स्वातम जपै।।३
जो भव्य हो तल्लीन निज, चैतन्य निर्मल ज्योति
पाते समाधी सम्पती, तजते सकल धन धाम है।।३

पाते न दर्शन, ज्ञान, तप, चारित्र निश्चय तत्त्व जो।
वो जीव नाटककार सम नहिं, प्राप्त करते मोक्ष वो।। ३६ ।।
बालक, युवा, वृद्धापना, रोगादि सबको जानता।
धनवान, निरधन, राव, रंक, सभी करम कृत मानता।। ३७ ।।
आत्म ज्ञान पवित्र तीरथ, न्हांय ते विद्वान है।
आत्म मल को धोयकर, स्वयं ही बने भगवान है।। ३८ ।।
चैतन्य रत्नाकर किनारे, जो रहें विद्वान है।
बहुमूल्य पाते रत्न वो, उत्तम बने धनवान हैं।। ३९ ।।
आगम स्वरूपी डोर मे मुनि, बुद्धि धनुष सम्हाल के।
ज्ञान दर्शन चरित बाण, चलाय शत्रु संहारते।। ४० ।।
मोह रूपी गाढ़ निद्रा, बस भये जग जीव जो।
पुत्र, स्त्री आदि को, अपने समझ अकुलाय सो।। ४१ ।।
होकर अनाकुल रूप से, निज भाव में झुक जाय जो।
'मै ज्ञान हूँ' 'मैं ज्ञान हूँ' स्वयमेव उसको भान हो।। ४२ ।।
ज्ञायक निजानद बाग मे, धर्मात्मा की प्रीति हो।
वो केलि करते स्वात्म मे, पर से न करते प्रीति वो।। ४३ ।।

हे आत्मन! शीघ्र आत्महित कर!

हे आत्मन! जब तक वृद्धावस्था तुझे नही पकड़ लेती है, जबतक रोगरूपी अग्नि देहरूपी कुटिया को नही जला डालती है और जब तक इन्द्रियो की शक्ति क्षीण नही हो जाती है, तब तक तू आत्मकल्याण कर ले।

—आचार्य कुन्दकुन्द

समाधि दर्पण

कविवर — श्री नन चारित्र जैन

अनुवाद — श्री कामता प्रसाद

गणधर भाषित शांति समाधी,   दर्शन-ज्ञान चा।
जिय! देखी जिनदेव समाधी, जो धारे वह स
रागद्वेष उपशम मे हारे, कैसे वे परमात
जो परमातम देख न लेवे, उन किम रागद्वेष
जो भावुक हृदय आतम जोवे, वो मिथ्यात्व मह
जो मिथ्यात्व महातर खोवे, सो फिर आतमरूप
तब तक ही जिय भवदुख पाता, जब निजरूप न भ
यूं जान जिय! आपा ध्याओ, जो अजरामर पद
ऐसे जान जिय! निश्चय कीजे, क्षण-क्षण आतमध्य
निज ध्यान धरे, जिनवर भाषे, शाश्वत सुख अन
जिय! पर रूप से मन को वारो, तो निजरूप को य
आतमरूप मे थिर हो जावे, तो परयत्र न मन
पच इन्द्रिय अरु मन को मारो, आतम को भिन्न
जो आतम को सुष्ट पहिचाने, वह इन्द्रिय मन की।
हेय इन्द्रिय मन हैं जिय जानो, परमातम है शुद्ध
जीव अजीव भेद मत लाओ, ज्यो कर्मक्षय शीघ्र
जिय स्व-शरीर न जीवन जानो, ज्ञान गम्भीर। ज
यूं जान हो भेद विज्ञानी, पुद्गल कर्म भिन्न
ऐसे जानो धरो समाधी, दर्शन-ज्ञान च
यौवन धन परिजन सब नाशै, केवल धर्म एक ।

जीवन-सार जीव गुण भाओ, धर्म यही जिनवर ने बताओ।
पुत्र कलत्र धन सुवर्ण है जो भी, मरते साथ न जायें कोई।।
ईंगुर घाल घाव ज्यो खोते, लाभ त्यो संचित साधू पाते।
क्षमा जी धरते पाप नशाते, वे नर निरन्तर सुख है पाते।।
यों जान जिय! निष्ठुर ना बोलो, किम समभाव दुख ना सहो हो?
जिय भव्य! सुन साधु अनुरागी, निर्मलनिज ज्ञानसरोवर स्वादी।।
मन वच काय दया नित पालो, तो दुख क्लेश जलाजलि घालो।
मीठे बोलो, निठुर न उचारो, तो जिय! सुख निश्चल निर्धारो।।
यों जान जिय! परतीति करो है! जिनधर स्वामी हिय धरो रे।
ज्यों नेह घना त्यों दु:ख बडा है! नेह छोडे मुक्ति लाभ खरा है।।
सर जल ज्यो दिन दिन सूखे, त्यों तब आयु पल पल छीजे।
एकेंद्रिय पंचेन्द्रिय होवे, जबलग आतमरूप न जोवे।।
यूं जिय! सचमुच 'आपा' ध्याओ, शाश्वत सुख अविचल तुम पाओ।
निर्मल रत्नत्रय थिर जग माहीं, भाओ तो मल छीजे भाई।।
दर्शन-ज्ञान चरण जो जाने, सो निश्चय आतम मनमाने।
जो आतम श्रद्धा निर्मल पावे, सो सद्दर्शन अविचल भावे।।
केवल निजात्म सुद्धु विचारो, तो निश्चय जिय! ज्ञान निर्धारो।
जो पुन-पुन आतम थिर थाओ, तो निश्चय चारित्र मन भाओ।।
शिव-सुख का मार्ग मन लाओ, खापही आपा मन में भाओ।
जो निज आतमगुण में पागे, तो संसार महादुख भागे।।
कर्म न करिए, सहज शुद्ध होओ, आप स्वरूप में लौ जो लाओ।
शुद्ध-सरस-फल जिय! एक मानो, सकलदेव अरहंत बखानो।।
अष्ट कर्म रहित जिय शिवपुर जावे, निक्कल देव जिनेन्द्र बतावे।
जीव देवत्व रूप जो जाने! तो वह रत्नत्रय को माने।।
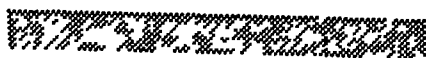
यह् भावना जिय पूर्व भावे, जो भावे सो शिव
इस प्रकार यह् भावना भाओ, दुख औ कर्म का
'णमो अरह्ताण' क्षण क्षण ध्याओ, ज्यो निर्वाण शीघ्र
चारित्रसेन समाधि पढे हैं! इस भव कर्म—क
नियम समाधि सुमिर विष नाशे, जिय! परमाक्षर
धन्य शुभ दिन सु-समाधि मरीने, जन्ममरण
ऐसी समाधि जो अणदिन पाले, सो अजरामर शिव
जिय! देखो जिनदेव समाधि, जो धारे वह् ।

समाधि-मरण

अमय कुमार जैन, मनासा (म.प्र.)

ममता तज समता भज चेतन ये ही मरण
मरण समय तो सुधर जायगा, जीवन का हर क्षण
कर्मो का वश नही चलेगा, जिन प्रतिमा समरूप
कहाँ कषाय ठह्र सकेगी, समदृष्टि की
जिसकी सिह् गर्जना सुनकर कर्मपखेरू
पहुँच जायगा तू सिद्धो मे अनुभव अमृत
ममता तज समता भज चेतन ये ही परम
दुर्गंधित यह् चाम मढ़ा हैं; इसमे क्या
माता रज और पिता वीर्य से, सप्त धातु नव
खुद का खुद ही निरीक्षण करले, अशुचि
कल बल करते कीडे इसमे, एक भाग
खटिया तेरी खड़ी हुई है, करता क्यो
ममता तज समता भज चेतन ये ही सहज
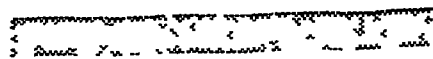
चतुर्गति मे सुख की आशा रखना ही नादानी है।
पैदा होना फिर मर जाना यह ससार कहानी है।
नर तिर्यन्च दुखी दिखते है, तेरी आँखों के आगे।
ज्ञानी की वीणा मे गूँजेः नर्क-स्वर्ग की पर्याये।
दुखी मानसिक देव नारकी कितनी भारी व्याधि है।
ममता तज समता भज चेतन ये ही मरण समाधि है॥३॥
रणभूमि मे लडते-लड़ते, मरण जिन्होने वरण किया।
मथुरा नगरी के राजा मधु, वीतराग पद सुमर लिया।
ऐसे और अनेकों ज्ञानी शुद्धातम पद ध्याया है।
ऐसा अवसर मैं कब पाऊँ आस हुतास बुझाया है।
सम्यक ज्ञान बिना ना रूकती, रागादिक की आँधी है।
ममता तज समता भज चेतन ये ही मरण समाधि है॥४॥
मिथ्या विष का वमन करो परिणामो की हो निर्मलता।
बारह भावन, सोलह कारण, दशलक्षण गुण अनुरक्ता।
चार आराधन मन में ध्यावों, पंच परम गुरू पद सत्ता।
जो ध्यावेगा सो पावेगा, निज की निज में पावनता।
जीता था-जीता है-जीवे, चेतन अभय अनादि है।
ममता तज समता भज चेतन ये ही मरण समाधि है॥७॥
समय न एक घटे, ना बढ़ता, आयु कर्म के योगों का।
जी जाये तो क्या कर लेगा, होनहार ही होने का।
मत तड़फे तू विकल वेदना मर जाने की चाह लिये।
मोह करे मत बन्धु मित्र में, पूर्व भोग परिहार किये।
राजा होकर भीख माँगना, बन्ध निदान विवादी है।
ममता तज समता भज चेतन ये ही मरण समाधि है॥१०॥

है, आश्चर्यकारी है क्योंकि इनमें संसार, शरीर और भोगों में लिप्त जगत को अनन्त सुखकारी मार्ग में प्रतिष्ठित करने का सम्यक् प्रयोग है, सफल प्रयोग है। सामान्यत आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक एवं अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक है।

('बारह भावना: एक अनुशीलन' के आधार से)

वैराग्य भावना

(वज्रनाभि चक्रवर्ती)

बीज राख फल भोगवै, ज्यो किसान जगमाहिं।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारै नाहि॥ १ ॥

जोगीरासा या नरेन्द्र छन्द

इहविध राज करै नर नायक, भौगे पुण्य विशाल।
सुखसागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो काल॥
एक दिवस शुभ कर्म संयोगे, क्षेमकर मुनि बन्दे।
देखे श्रीगुरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे॥२॥
तीन प्रदक्षिण दे शिर नायो, कर पूजा थुति कीनी।
साधु समीप विनय कर बैठ्यौ, चरनन में दिठि दीनी॥
गुरु उपदेश्यो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागे।
राजरमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागै॥ ३ ॥
मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भरम-बुधि भागी।
भव तन भोग स्वरूप विचार्यो, परम धरम अनुरागी॥
इस ससार महावन भीतर, भ्रमते और न आवै।
जामन मरण जरा दव दाझै, जीव महादुख पावै॥४॥
कबहुँ जाय नरक तिथि भुंजै, छेदन भेदन भारी।
कबहुँ पशु परजाय धरै तहँ, वध बंधन भयकारी॥
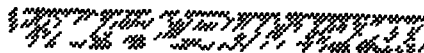
वज्र अंगनि विष से विषधर से, ये अधिके दुखदाई।
धर्म रतन के चोर प्रबल अति, दुर्गति पथ सहाई॥११॥
मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, तो सब कचन मानै॥
ज्यों ज्यों भोग संजोग मनोहर, मन वांछित जन पावै।
तृष्णा नागिन त्यो त्यो डंकै, लहर जहर की आवै॥१२॥
मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे।
तौ भी तनिक भये नहि पूरन, भोग मनोरथ मेरे॥
राज समाज महा अघ कारण बैर बढावनहारा।
वेश्या सम अति चंचल, याका कौन पत्यारा॥१३॥
मोह महारिपु वैर विचार्यो, जगजिय सकट डारे।
घर कारग्रह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवारे॥
सम्यकदर्शन ज्ञान चरन तप, ये जियके हितकारी।
ये ही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी॥१४॥
छोड़े चौदह रत्न नवोनिधि, अरु छोड़े सग साथी।
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥
इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी, जीरण तृणवत त्यागी।
नीतिविचार नियोगी सुत को, राज्य दियो बड़भागी॥१५॥
होय निशल्य अनेक नृपति सग, भूषण वसन उतारे।
श्री गुरु चरनधरी जिनमुद्रा, पच महाव्रत धारे॥
धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तमं, धनि यह धीरजधारी।
ऐसीसम्पत्ति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी॥१६॥
परिग्रह पोट उतार सब, लीनो चारित पंथ।
निज स्वभाव मैं थिर भये, वज्रनाभि निरग्रथ॥

पीतो सुधा स्वभाव की, जो तो कहूँ सुनाय।
तू रीतो क्यो जातु है, बीतो नरभव जाय॥१२॥
मिथ्यादृष्टि निकृष्ट अति, लखे न इष्ट अनिष्ट।
भ्रष्ट करत है शिष्ट को, शुद्ध दृष्टि दे पिष्ट॥१३॥
चेतन कर्म उपाधि तज, राग द्वेष को संग।
ज्यो प्रगटे परमातमा, शिव सुख होय अभंग॥१४॥
ब्रह्म कहूँ तो मै नही क्षत्री हूँ पुनि नाहिं।
वैश्य शूद्र दोऊ नही चिदानन्द हूँ माहि॥१५॥
जो दीखे इन नैन सों, सो सब विनस्यो जाय।
तासों जो अपनो कहे, सो मूरख सिर राय॥१६॥
पुद्गल को जो रूप है, उपजे विनसे सोय।
जो अविनाशी आतमा, सो कछु और न होय॥१७॥
देख अवस्था गर्भ की, कौन कौन दुख होय।
बहुरि मगन ससार में, सो लानत है तोय॥१८॥
अधोशीश ऊरध चरण, कौन अशुचि आहार।
थोड़े दिन की बात यह, भूल जात संसार॥१९॥
अस्थि चर्म मलमूत्र में, रैन दिना को बास।
देखे दृष्टि घिनावनो, तऊ न होय उदास॥२०॥
रोगादिक पीड़ित रहे, महा कष्ट जब होय।
तबहूँ मूरख जीव यह, धर्म न चितवे कोय॥२१॥
मरन समय बिललात है कोऊ लेहु बचाय।
जाने ज्यों त्यों जीजिये, जोर न कछू बसाय॥२२॥
फिर नरभव मिलवो नही, कियेहु कोटि उपाय।
ताते बेगहि चेतहू अहो, जगत के राय॥२३॥
"भैय्या" की यह बीनती, चेतन चितहि विचार।
ज्ञानदर्श चारित्र मे आपो लेहु निहार॥२४॥

बारह भावना

(कविवर — श्री जयचन्दकृत)

द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है
द्रव्य दृष्टि आपा लखो, पर्जय नय करि गौन।।
शुद्धातम अरु पंच गुरु, जग में सरनी
मोह उदय जिय के वृथा आन कल्पना होय।।
परद्रव्यन तै प्रीति जो, है संसार
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध।।
परमारथ तैं आतमा, एक रूप ही
कर्म निमित्त विकलप घने, तिन नासे शिव होय।।
अपने-अपने सत्व कूँ, सर्व वस्तु
ऐसे चितवे जीव तब, परतें ममत न थाय।।
निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन
जानि भव्य निज भाव को, यासों तजो सनेह।।
आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय दृष्टि
सब विभाव परिणाममय, आस्रव भाव विडार।।
निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर
समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पाप की हानि।।
संवर मय है आतमा, पूर्व कर्म झड
निज स्वरूप को पायकर, लोक शिखर जब थाय।।
लोक स्वरूप विचारि कें, आतम रूप नि
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि।।१
बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं।।१
दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि।।१

बारह भावना

कविवर-पण्डित दीपचन्द

द्रव्य दृष्टि से वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार।
तासे योग वियोग में, हर्ष विषाद निवार॥१॥
शरण न जिय को जगत में, सुर नर खगपति सार।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार॥२॥
जन्म जरागद मृत्यु भय, पुनि जहं विषय कषाय।
होवे सुख दुख जीव को, सो संसार कहाय॥३॥
पाप पुण्य फल दुःख सुख, सम्पत विपत सदीव।
जन्म जरा मृतु आदि सब, सहै अकेला जीव॥४॥
जा तन में नित जिय बसै, सो न अपनो होय।
तो प्रतक्ष जो पर दरब, कैसे अपनो होय।
सुष्ठु सुगन्धित द्रव्य को, करे अशुचि जो काय।
हाड मांस मल रुधिर थल, सो किम शुद्ध कहाय॥६॥
मन वच तन शुभ अशुभ ये, योग आस्रव द्वार।
करत बन्ध विधि जीव को, महा कुटिल दुखकार॥७॥
ज्ञान विराग विचार के, गोपै मन वच काय।
थिर ह्वै अपने आप में, सो संवर सुखदाय॥८॥
पाँचों इन्द्रिय दमन कर, समिति गुप्ति व्रत धार।
इच्छा बिन तप आदरै, सो निर्जरा निहार॥९॥
पुद्गल धर्म अधर्म जिय, काल जिते नभ मौंहि।
नराकार सो लोक में, विधि वश जिव दुख पौंहि॥१०॥
सबहि सुलभ या जगत में, सुर नर पद धन धान।
दुर्लभ सम्यग्बोधि इक, जो है शिव सोपान॥११॥
जप तप संयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार।
'दीप' रमण चिद्रूप निज, निश्चय वृष सुखकार॥१२॥

बारह भावना

कविवर बुधजनकृत

आयु घटत तेरी दिन-रात, होय निचीत रह्यो
जोवन, धन, तन, किंकर, नारि, सव हैं जल बुद्बुद्
पूरन आयु वधै खिन नाहिं, दिये कोटि धन
इन्द्र चक्रपति हू कहा करैं, आयु अन्तते वे हू
यो ससार असार महान, सार आप मे "
सुख तै दुख, दुखतै सुख होय, समता चारो गति नहिं
अनन्तकाल गति-गति दुख लह्यो, वाकी काल
सदा अकेलो 'चेतन' एक, ते मौंहीं गुन बसत
'तू' न किसी का, कोइ नहिं तोय, तेरी सुख-दुख 'तो'
यातै 'तो' को 'तू' उर धार, परद्रव्यनि तै मोह
हाड-मौस तन लिपटी चाम, रुधिर-मूत-मल-
सोहू थिर न रहै, खय होय, याको तजै मिलै
हित-अनहित तन-कुल-जन माहिं, खोटी बानि रही
यातै पुद्गल-करमन जोग, प्रनवै दायक सुख-दुख
पौंचो इन्द्रिन के तज फैल, चित्त निरोधि, लागि
'तो' मे तेरी तू करि सैल, कहा रह्यो है कोल्हू
तजि कषाय, मन की चल चाल, ध्यावो अपना -
झरैं करम-बन्धन दुख दान, बहुरि प्रकाशै
तेरो जनम हुवो नहीं जहौं, ऐसो खेतर
याही जनम-भूमिका रचो, चलो निकसि तो विधि तैं
सब व्योहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती
निपट कठिन 'अपनी' पहचान, ताको पावत होत
धरम सुभाव आप सरधान, धर्म न शील, न ह्वान,
'बुधजन' गुरु की सीख विचार, गहो धर्म आतम- तन

बारह भावना

कविवर भूधरदासकृत

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥१॥
दल बल देई देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोऊ न राखन हार॥२॥
दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥३॥
आप अकेले अवतरे, मरै अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥४॥
जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥५॥
दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह॥६॥
मोह नींद के जोर, जगवासी घूमै सदा।
कर्म चोर चहुँ ओर, सरवस लूटैं सुध नहीं॥७॥
सतगुरु देय जगाय, मोह नीद जब उपशमैं।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्म चोर आवत रुकैं॥८॥
ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसैं नहीं, पैठे पूरब चोर॥९॥
पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार॥१०॥
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तें, भरमत है बिन ज्ञान॥११॥
धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥१२॥
जाँचे सुर तरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन॥१३॥
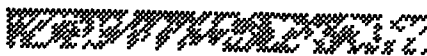
चक्र रतन हलधर सा भाई, काम नहीं आया।
एक तीर से लगत कृष्ण की, विनश गई काया॥
देव धर्म गुरु शरण जगत में, और नहीं कोई।
भ्रम से फिरे भटकता चेतन, यूँ ही उमर खोई॥७॥

संसार भावना

जनम-मरण अरु जरा रोग से, सदा दुःखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव भव, परिवर्तन सहता॥
छेदन भेदन नरक पशु गति, वध बन्धन सहना।
राग उदय से दुःख सुरगति में, कहाँ सुखी रहना॥८॥
भोगि पुण्य फल हो इक इन्द्री, क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर, खुरपा अरु जाली॥
मानुष जन्म अनेक विपतिमय, कहीं न सुख देखा।
पञ्चम गति सुख मिले, शुभाशुभ का मेटो लेखा॥९॥

एकत्व भावना

जन्मे मरे अकेला चेतन, सुख दुःख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी॥
कमला चलत न पैंड जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवे, पिता पुत्र दारा॥१०॥
ज्यों मेले में पन्थी जन मिलि, नेह फिरे धरते।
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा, पन्छी आ करते॥
कोस कोई दो कोस कोई उड, फिर थक थक हारे।
जाय अकेले हंस सङ्ग में, कोई न पर मारे॥११॥

अन्यत्व भावना

मोह रूप मृग तृष्णा जल में, मिथ्या जल चमके।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ-उठ, दौडे थक-थक के॥
जल नहिं पावै प्राण गमावे, भटक-भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता॥१२॥
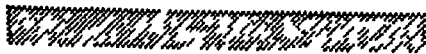
तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड तू
मिले अनादि यतन तें बिछुडे, ज्यों पय अरु
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद ज्ञान
जोलों पौरुष थके न तो लों, उद्यम सो चरना।। १

अशुचि भावना

तू नित पोखे यह सूखे ज्यों, धोवे त्यों
निश दिन करे उपाय देह का, रोग दशा
मात पिता रज वीरज मिलकर, बनी देह
मॉंस हाड नश लहू राध की, प्रगट व्याधि घेरी।। १
काना पौण्डा पडा हाथ यह, चूँसे तो
फले अनन्त जु धर्म ध्यान की, भूमि विषै
केसर चन्दन पुष्प सुगन्धित, वस्तु देख
देह परसते होय, अपावन निश दिन मल जारी।। १

आस्रव भावना

ज्यो सर जल आवत मोरी त्यों, आस्रव कर्मन
दर्वित जीव प्रदेश गहै जब, पुद्गल भरमन
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ, निश दिन चेतन
पाप पुण्य के दोनों करता, कारण बन्धन को।। १
पन मिथ्यात योग पन्द्रह द्वादश अविरत
पंच रु बीस कषाय मिले सब, सत्तावन
मोह भाव की ममता टारे, पर परिणति
करे मोख का यतन निरास्रव ज्ञानी जन होते।। १

संवर भावना

ज्यों मोरी में डाट लगावे, तब जल रुक
त्यों आस्रव को रोके संवर क्यों नहिं मन
पञ्च महाव्रत समिति गुप्तिकर, वचन काय मन
दश विध धर्म परीषह बाइस, बारह भावन को।। १

यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते।
सुपन दशा से जागो चेतन, कहाँ पड़े सोते॥
भाव शुभाशुभ रहित शुद्धि, भावन संवर पावैं।
डाँट लगत यह नाव पड़ी, मंझधार पार जावै॥१९॥

निर्जरा भावना

ज्यों सरवर जल रुका सूखता, तपन पड़े भारी।
संवर रोके कर्म निर्जरा, ह्वै सोखन हारी॥
उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली।
दूजी है अविपाक पकावें, पाल विषै माली॥२०॥
पहली सबके होय नहीं कुछ, सरे काम तेरा।
दूजी करे जु उद्यम करके, मिटे जगत फेरा॥
संवर सहित करो तप प्रानी, मिले मुक्ति राणी।
इस दुलहिन की यही सहेली, जाने सब ज्ञानी॥२१॥

लोक भावना

लोक अलोक अकाश माँहि थिर, निराधार जानो।
पुरुष रूप कर कटी भये षट् द्रव्यन सों मानो॥
इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादि है।
जीव रु पुद्गल नाचे यामैं, कर्म उपाधि है॥२२॥
पाप पुण्य सों जीव जगत में, नित सुख दुःख भरता।
अपनी करनी आप भरै सिर औरन के धरता॥
मोह कर्म को नाश मेटकर, सब जग की आसा।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो वासा॥२३॥

बोधिदुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रस गति पानी।
नर काया को सुरपति तरसे, सो दुर्लभ प्राणी॥
उत्तम देस सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।

दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम, पंचम गुण ठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव
दुर्लभ तैं दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर, इस भव मे आवै॥

धर्म भावना

एकान्तवाद के धारी जग में, दर्शन
कल्पित नाना युक्ति बनाकर, ज्ञान हरे
हो सुछन्द सब पाप करें सिर, करता के
कोई छिनक कोई करता से, जग में भटकावे॥
वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्री जिनकी
सप्त तत्त्व का वर्णन जामें, सब को सुख
इनका चितवन बार-बार कर, श्रद्धा उर
'मंगत' इसी जतन तें इक दिन, भवसागर तरना॥

बारह भावना

(कविवर – पं. श्री भागचन्द्रजी)

"जग है अनित्य तामै सरन न वस्तु
तातै दु:खरासि भववास कौं
एक चित् चिह्न सदा भिन्न परद्रव्यनि
अशुचि शरीर मे न आपाबुद्धि
रागादिक भाव करै कर्म को बढ़ावै
संवरस्वरूप होय कर्मबन्ध
तीनलोक मौंहिं जिनधर्म एक दुर्लभ
तातैं जिनधर्म को न छिनहू विसारिए।

अध्याय - पंचम

जैन आचार-आहार विधि

आत्मा और मन पर आचार-विचार तथा खान-पान का बडा भारी प्रभाव पडता है। आचार-विचार की शुद्धता के बिना धर्ममार्ग की ओर प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। आजकल पदार्थों की मर्यादा, श्रावकों के अष्ट मूल गुण एवं आचरने योग्य अन्य क्रियाओं से अधिकांश धर्मबन्धु अनभिज्ञ हैं, उन सब आचरने योग्य प्राथमिक एवं आवश्यक क्रियाओं के सम्बन्ध में यहाँ जानकारी दी जा रही है।

जैन आचार विधि

पदार्थों की मर्यादा

जल

(१) दोहरे छन्ने से छाने हुए जल की मर्यादा ४८ मिनट की है।

(२) छने हुए पानी में लौंग, सौंफ आदि डालने से मर्यादा ६ घंटे की हो जाती है (एक हडा (मटका) पानी में १ तोला लौंग या सौंफ डालना चाहिए।)

(३) उबले हुए (साधारण गरम किए हुए) पानी की मर्यादा १२ घण्टे की है।

(४) विशेष गरम (तीन उबाल) किए हुए पानी की मर्यादा २४ घण्टे की है।

नोटः मर्यादा के भीतर में बचे हुए पानी को सूखे स्थान पर डाल देना चाहिए। फिर वह छानने से भी काम में नहीं आता।

दूध

(१) गाय के स्तन को धोकर निकाले गए दूध की मर्यादा ४८ मिनट की है।

(२) मर्यादा के भीतर दूध को गरम कर लेने से उसकी मर्यादा २४ घण्टे की हो जाती है।

आटा

शीतकाल में आटे की मर्यादा ७ दिन की, ग्रीष्मकाल में ५ दिन की तथा चार्तुमास में ३ दिन की है। इससे विशेष अधिक दिन रहने पर वह अमर्यादित हो जाता है।

मसाला

लालमिर्च, हल्दी और धनिये की मर्यादा भी आटे के समान ही है।

नमक (सेंधा)

पीसने के बाद नमक की मर्यादा ४८ मिनट की है। नमक को गरम कर लेवे अथवा लाल या काली मिर्च डाल देवे तो उसकी मर्यादा ६ घण्टे की हो जाती है।

भोजन की मर्यादा

(१) दाल, कढ़ी, चावल, तरकारी, खीचडी, रायता आदि की मर्यादा ६ घण्टे की होती है।

(२) तली हुई चीज की मर्यादा २४ घण्टे की होती है, जैसे मोनवाली पूरी, पापड आदि।

(३) पूरी, हलवा, रोटी, बड़ा आदि जिसमें पानी का अंश अधिक हो, उसी मर्यादा १२ घण्टे की है।

मिठाई

(१) जिसमें पानी डाला जाता है, ऐसे खाजा, इमरती, घेवर, लड्डू आदि की मर्यादा २४ घण्टे की है।

(२) जिसमें पानी नहीं डाला जाता है, ऐसी मिठाई की मर्यादा आटे के समान है (जैसे मगद का लड्डू)।

बूरे की मर्यादा

(चीनी के बने हुए बूरे की मर्यादा)

शीतकाल में १ मास, गरमी में १५ दिन तथा वर्षा ऋतु में ७ दिन की मर्यादा होती है।
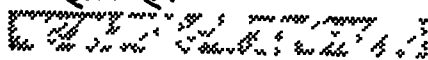
लगते ही उसमें अनन्त निगोदिया जीव उत्पन्न हो जाते हैं। किसी-किसी आचार्य का ऐसा विधान भी मिलता है कि दोनों पदार्थों को गरम करके खाने से द्विदल का दोष नहीं लगता है।

गरम करने के बाद भी खाने की मर्यादा ६ घण्टे की रहती है, उससे अधिक नहीं।

(३) इमली, नींबू, आंवला, कोकम, कमरक, टमचूर के साथ पूर्वोक्त चीजें खाने में आवे, तो वह द्विदल नहीं है।

दृष्टांत

तीतर पक्षी कीड़ा बहुत खाता है। उसको कीडा खिलाने के लिए उसके मालिक कच्ची छाछ में बेसन को घोलकर कढ़ी बना लेते हैं, कढ़ी बनने के बाद उसमें थूकने से कुछ ही समय बाद उसमें कीडे बिलबिलाने लगते हैं जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अतः द्विदल का त्याग करना चाहिए।

जलेबी

हलवाई की जलेबी बनाने में दो दिन तक मैदा को सड़ाया जाता है, सड़ जाने से उसमें उबाल आता है, वह मटकी से बाहर निकल पड़ता है। उस उबाल में कीडों की वजह से खट्टापन आ जाता है, उसी उबाल की जलेबी बनाई जाती है, ऐसी जलेबी में अनन्त जीवों का घात होता है, अतः हलवाई की जलेबी सर्वथा त्यागने योग्य है।
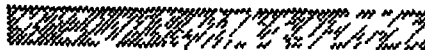
२२ अभक्ष्यों के नाम

(१) ओला (बरसात का ओला)

(२) घोल बडा (द्विदल)

(३) रात्रिभोजन

(४) बहुवीजा (खसखस, ऐसा केला जिसमें बीज

(५) बैंगन

(६) आचार मुरब्वा

(७) बड का फल
(८) पाकर का फल
(९) पीपल का फल
(१०) कठूंमर का फल
(११) गूलर का फल

जिस वृक्ष को तोडने से दूध निकलता है, वह उदम्बर है। ये पाँच प्रकार के

(१२) अजान फल

(१३) कन्दमूल (आलू, अद्रक, प्याज, लसन, मूली आदि

(१४) मिट्टी (भूतिया)

(१५) विष

(१६) मांस

(१७) मधु (शहद)

(१८) मक्खन (अमर्यादित मक्खन अभक्ष्य है)

(१९) मदिरा (शराब)

(२०) तुच्छ फल (छोटी क्कडी, छोटी कैरी, छोटी जिनमे छोटा-छोटा रूंवा होता है।

(२१) चलितरस (तेल, घी, आदि के रस का स्वाद बिगड जाये तो वह चलितरस हो जाता है)

(२२) तुषार (ओस, बरफ आदि)

बाईस अभक्ष्य सम्बन्धी दोहा

ओला घोल बड़ा निशि भोजन, बहुबीजा बैगन सन्धान।
बड़ पीपल ऊमर कठऊमर, पाकर फल जो होय अजान।।
कन्दमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरा पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस, ये जिन मत बाइस अखान।।

श्रावकों को उपरोक्त अभक्ष्यों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

कुछ ज्ञातव्य बातें

जिनके हरी का त्याग हो, वह गन्ने का रस नहीं ले सकता। जिसके मीठे का त्याग हो, वह गन्ने का रस ले सकता है।

छहों रस का त्यागी छाछ ले सकता है क्योंकि छाछ रस में नहीं है।

हरी को प्रासुक करने की विधि

मसाला डाल देने से, छिन्न-भिन्न कर देने से अथवा गरम कर लेने से हरी प्रासुक हो जाती है।

छह रसों के नाम

दही, दूध, नमक, मीठा, तेल और घी इस प्रकार छह रस हैं। हरी रस में गर्भित नहीं है।

श्रावक के षट् आवश्यक

निम्नलिखित छः आवश्यक श्रावक को प्रतिदिन पालन करना चाहिए—

(१) देवदर्शन (२) गुरु उपासना (३) स्वाध्याय (४) सयम (५) तप (६) दान

श्रावक के षट् गृहस्थ कर्म

चक्की, ऊखली, चूल्हा, बुहारी, जल तथा आजीविका

श्रावक को इन छः कार्यों में यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति रखना चाहिए।

धर्म सम्वन्धी षट् कर्म

सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, स्तुति ये धर्म सम्वन्धी षट् कर्म हैं, जिनका यथाशक्ति .ण पालन करना चाहिए।

श्रावक के ११ गुण

(१) एक घण्टा ब्रह्ममुहूर्त में उठकर पवित्र होकर । करें।

(२) प्रात काल शौच स्नानादि से निपटकर अपनी द्रव्य लेकर जिन मंदिरजी जाकर भगवान के आदि धार्मिक प्रवृत्ति करें। मन्दिरजी में ऊनी तथा पहनकर न जावें।

(३) धर्म कार्य से निपटने के बाद शुद्ध मर्यादित

(४) कन्दमूलादि अभक्ष्य पदार्थ का सर्वथा त्याग

(५) आजीविका सम्वन्धी कार्य नीति और न्याय से

(६) संध्या को आत्मचिन्तवन रूप् सामायिक करें।

(७) प्रतिदिन आधा घण्टा तक शास्त्रसभा में शास्त्र का

(८) सारे दिन में किए गए कार्यों का रात्रि को तथा आलोचनापूर्वक पापक्रिया का त्याग करें।

(९) साधर्मी में कोई दुखी हो तो उसकी सेवासुश्रुषा माता बहिन की गुप्तदान से सहायता करें।

(१०) चार प्रकार का दान सुपात्र को यथायोग्य .

(११) भोगोपभोग का यथाशक्ति नियम करें।

श्रावकों की ५३ क्रिया

आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता, चार दान, जलगालन व्यालू (भोजन दो घड़ी सध्या के दर्शन, ज्ञान, चारित्र।

श्रावक के १७ यम

(१) कुगुरु (२) कुदेव (३) कुवृष की सेवा का त्याग (४) अनर्थदण्ड (५) अधर्म का व्यापार (हिंसात्मक व्यापार) (६) द्यूत (७) मांस (८) मधु (९) वेश्या (१०) चोरी (११) परस्त्री (१२) हिंसादान (१३) शिकार (१४) त्रस की हिंसा (१५) स्थूल असत्य (१६) बिन छना जल (१७) रात्रि (निषि) आहार।

ये सत्रह यम आजीवन परिहार करने योग्य हैं।

श्रावक के धारण करने योग्य १७ नियम

(१) भोजन कितनी बार करूँगा।

(२) छः रस में से कितने रस का मैं त्याग करूँगा।

(३) भोजन छोड़कर मैं कितनी बार इस्तेमाल करूँगा।

(४) कुमकुम, तेलादि लेप कितनी बार पानादि ग्रहण करूँगा।

(५) पुष्पमाला आदि कितनी बार इस्तेमाल करूँगा।

(६) ताम्बूल, पान, सुपारी, इलायची आदि कितनी बार इस्तेमाल करूँगा।

(७) गीत, संसारी गान, नाटक, सिनेमादि कितनी बार देखूँगा।

(८) लौकिक नृत्य कितनी बार देखूँगा।

(९) स्वदारा से कितनी बार भोग करूँगा अथवा नहीं करूँगा।

(१०) स्नान कितनी बार करूँगा।

(११) कितने और कौन कौन से वस्त्र काम में लूँगा।

(१२) कितने और कौन कौन से आभूषण पहिनूँगा।

(१३) बैठने के लिए कितने और कौन कौन से आसन, फर्नीचर का प्रयोग करूँगा।

(१४) सोने तथा लेटने के कितने आसन (बिस्तरादि) प्रयोग में लाऊँगा।

(१५) कितनी बार कौन कौन सी सवारी का प्रयोग करूँगा।

(१६) खान पान मे कितनी वस्तु इस्तेमाल करूंगा।
(१७) फलादि कितने इस्तेमाल करूंगा।

अष्टमी-चतुर्दशी का महात्म्य

अनादिकाल से आत्मा ने अपूर्व करण (पूर्व मे क परिणाम प्राप्त नहीं किया है) अष्टम गुणस्थान रुपी पा नही किया है; और चौदहवाँ गुणस्थान जो मोक्ष की । जीव ने अनादि से प्राप्त नहीं किया है, इसी कारण इ के हेतु अष्टमी और चतुर्दशी को अनादि से महान पर्वरूप है। उस दिन विशेष तौर पर आरम्भ-समारम्भ से छूटक संयम आदि धारणकर हरी कायादि जीवो की प्राण रक्षा कर

व्रती (त्यागी) होने की रीति

पहले तो तत्त्वज्ञान हो, लोभादि विषय-कषाय आ। उदासीन परिणाम होय तब यथाशक्ति व्रत धारण करने है, मगर वर्तमान मे बहुधा देखा जाता है कि कितने ही अन्तरङ्ग मे आत्म कल्याण की इच्छा रखते हुए भी, ।बन प्राप्त किये, दूसरो की देखा-देखी श्रावकधर्म की ग्यारह । बतलाई गई प्रतिज्ञाओ में से कोई २-४ प्रतिज्ञाये अपनी अनुसार नीची-ऊँची यद्वा-तद्वा धारण कर त्यागी बन जा। मनमानी स्वच्छन्द-प्रवृत्ति आगम-विरुद्ध करते हैं, जिस कल्याण की बात तो दूर रही, उलटी धर्म की भारी हंसी ऐसे त्यागी न तो प्रतिमा के स्वरूप को जानते हैं, न निवृत्ति को जानते हैं, इस प्रकार आप भी डूबते हैं और भी डुबाते हैं। धर्म-विरुद्ध आचरण से न तो अपना क है और आगम-विरुद्ध उपदेश देकर दूसरो का भी हित करते हैं। ऊँचा नाम धराकर नीची-प्रवृत्ति करना या द। कर दानादि ग्रहण कर अपने को त्यागी धर्मात्मा ब ल

पाखण्ड तथा अज्ञान है। पत्थर की नाव जिस प्रकार अपने ध्येय पर नहीं पहुँच सकती, वैसे ही ऐसे त्यागी महात्मा भी अपने ध्येय तक नहीं पहुँच सकते हैं। भोला जीव बाह्य-वेश को ही सही मान लेता है और धर्मविहीन बना रहता है। अतएव आत्म कल्याण की भावना रखने वाले को उचित है कि पहले देवशास्त्र, गुरु का स्वरूप अच्छी तरह जानें, पंच परमेष्ठी का स्वरूप पहचानें। छः द्रव्य तथा सात तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ-विधि से समझे। आत्मा के स्वभाव विभाव को समझे, बाह्य अन्तरंग क्रियायें एवम् उनके फल को यथा-विधि जाने, स्व-पर भेद-ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही यथाशक्ति चारित्र अंगीकार करना योग्य है। जिस प्रतिभा में जिस व्रत के पालन या पाप त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतिचार नहीं लगाने से ही प्रतिमा कहलाती है। यदि नीचे की प्रतिमाओं का चरित्र पालन न कर ऊपर की प्रतिमा का चरित्र धारण कर लिया जाय तो वह जिनमत से बाह्य-कौतुक मात्र है। शनै: शनै: चरित्र पालन की ओर बढ़ने से ही विषय-कषाय की मन्दता होकर आत्मिक सच्चे सुख की प्राप्ति होती है, जो कि त्यागियों का मुख्य उद्देश्य है।

व्रती श्रावक के पालने योग्य ३२ नियम

(१) रात्रि का बनाया हुआ भोजन न करें।

(२) जाति बिरादरी के जीमन में भोजन न करें (क्योंकि वहाँ शुद्धाशुद्ध तथा भक्षाभक्ष, मर्यादा-अमर्यादा, छना-अनछना पानी आदि बातों का विचार नहीं रहता है)।

(३) रसोई बनाते व जीमते समय शुद्ध वस्त्र पहिनें।

(४) नीच जाति और निकृष्ट धंधा करने वाले से लेनदेन, बैठना-उठना न करे।

(५) बाग-बगीचे में भोजन न करें।
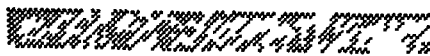
(२६) हिंसा, निंद्य, निर्दयता का धन्धा न करें, उदासीनपूर्वक अल्प आरम्भ रखें।

(२७) पाखाने पर पाखाना तथा मूत्र पर मूत्र मोचन न करें।

(२८) काष्टादिक का दंतोन न करें।

(२९) स्त्रीवाचक सवारी हथिनी, घोडी, ऊँटनी आदि पर न बैठें।

(३०) ताम्बूल केसरादि कामोद्दीपक वस्तुएं न खावें।

(३१) कपडे के जूते और छाता सातवीं प्रतिमा तक रख सकते हैं; आगे सर्वथा त्याग करें।

(३२) गृहत्यागी सम्पूर्ण दाढ़ी, मूँछ, सिर के बालों का मुंडन प्रति पन्द्रह दिन बाद करावें, केवल चोटी रखें, गृहवासी मूँछ कतरावे, मगर मूँछ का मुंडन नहीं करावें। गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागने पर तथा गृहवासी दसवीं प्रतिमा धारण करने पर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि हानि का सूवा-सूतक न मानें, क्योंकि वह गृहस्थपने से अलग हो गया है।

जलगालन विधि

जलगालन— अनछने जल की एक बूंद में असंख्यात छोटे-छोटे त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदया के पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यता के निमित्त जल को दोहरे छन्ने से छानकर पीना योग्य है। छन्ने का कपडा स्वच्छ, सफेद, साफ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला फटा तथा ओढ़ा-पहिना हुआ कपडा छन्ने के योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न रहे। छन्ने का प्रमाण सामान्य रीति से शास्त्रों में ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौडा[१] कहा है, जो दुहरा करने से २४ अंगुल लम्बा १८ अंगुल चौडा होता है। यदि बर्तन का मुंह अधिक चौडा हो, तो बर्तन के मुंह से तिगुना दुहरा छन्ना होना चाहिए। छन्ने में रहे हुए जीव अर्थात जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जल स्थान

ने क्षेरे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावड़ी, नदी
पानी भरने वाला जल तक पहुँच सकता है, जीवाणी ड
है। कुँए ने दीवालों पर गिर जाती है अथवा कदाचित
पहुँच जाय, तो उसने के जीव इतने ऊपर से गिरने क
जाते हैं, जिससे जीवाणी डालने का अभिप्राय "अहिंसा
पलता। अतएव संवर कड़ीदार लोटे से कुँए के जल
पहुँचाना योग्य है।

पानी छानकर पीने से जीवदया पलने के सिवाय [illegible]
रहता है। अनछना पानी पीने से बहुधा मलेरिया ज्वर, न
दुष्ट रोगों की उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि-लाभों ,
हर एक बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है कि शास्त्रोक्त-र
छानकर पीवे। छानने के पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी
मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो
जल फिर अनछने के समान हो जाता है।

इन अष्ट मूलगुणों में देवदर्शन, जलछानन और
त्याग ये तीन गुण तो ऐसे हैं जिनसे हर एक सज्जन
के दया धर्म की तथा धर्मोत्पादन की पहिचान कर सकता
आत्महितेच्छु-धर्मात्माओं को चाहिए कि जीवमात्र पर द्य
प्रामाणिकतापूर्वक बर्ताव करके इस पवित्र धर्म की सर्व जा
करें।

१ षड्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत॥१॥
(पीयूषवर्ष [illegible]

२. लोटे के पैंदे में एक आंकड़ा लगवावे आंकड़े में रस्सी ब
समेत सीधा लोटा कुँए में डालने और पानी की सतह
हिलाने से लोटा औंधा हो जाता है और जीवाणी पानी
है। जीवाणी गिर चुकने पर लोटा ऊपर खींच लेवे।

स्वस्थ जीवन की पहली सीढ़ी—रात्रि भोजन निषेध

सूर्यास्त के पूर्व भोजन करना स्वस्थ जीवन की प्रथम सीढ़ी है। रात्रि में भोजन करना उच्च रक्तचाप, दमा, श्वास रोग, हृदयरोग तथा अनेक बीमारियों को एक खुला आमंत्रण है, जो कि इनके होने से शीघ्र मृत्यु का कारण बन जाता है।

१ पाचन शक्ति : सूर्यास्त के पूर्व भोजन करना पाचन की दृष्टि से सर्वोत्तम है, क्योंकि रात्रि में सोने के तीन घण्टे पूर्व भोजन करना आरोग्यदायक है। रात्रि में ९-१० बजे भोजन करनेवाला भोजन करके सो जाता है जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

२. सूर्य का प्रकाश और ऑक्सीजन : सूर्य के प्रकाश में वृक्ष ऑक्सीजन छोडते हैं और रात्रि में कार्बन-डाई-ऑक्साइड। अतएव दिन में वायुमण्डल में ऑक्सीजन पर्याप्त रहता है जो कि मनुष्य की श्वास और भोजन में सहायक होता है जो कि रात्रि में कार्बन डाई ऑक्साइड के कारण वातावरण दूषित हो जाता है जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

३. अल्ट्रावायलेट किरणें और कीटाणु : सूक्ष्म जीव सूर्य के प्रकाश में प्रकट नहीं होते और जो कीटाणु स्वस्थ के लिए हानिकारक होते हैं उन्हें अल्ट्रावायलेट किरणें नष्ट कर देती हैं। किन्तु रात में ये कीटाणु नष्ट नहीं होते, इसलिए वे रात्रि भोजन करने वालों के लिए हमेशा हानिकारक सिद्ध होते हैं।

४ दीर्घजीवन : सूर्यास्त के पूर्व भोजन करने वालों को स्वतः निश्चित समय पर भोजन करना पडता है जबकि रात्रिभोजन करने वाले व्यक्ति अनिश्चित समय पर अपनी सुविधानुसार भोजन करते हैं, जो कि हितकर नहीं है। घर में बाध्य होकर गृहणियों को भोजन बनाकर रख देना पड़ता है।

५ रात्रि में अधकार और जहरीले जीव : सबसे
यह है कि अनेकानेक सूक्ष्म कीटाणु जो
दृष्टिगोचर होते हैं, रात्रि के अधकार मे
फलस्वरूप कभी-कभी भोजन में भी आ जाते
लोग प्रतिदिन अनेक बीमारियों के शिकार

६. रात्रि में बिजली की रोशनी कितनी भी क्यो
बनाने में छोटे-छोटे कीटाणुओ का दृष्टि से
है और फिर बिजली की रोशनी तो स्वय क
का एक कारण है जिनका हम अनुभव रोज

७ निशाचर और पशु : रात के समय खाने वालो
है निशाचर। निशाचर को सस्कृत मे राक्षस
मे खाता ही रहता है, वह बिना सींग
के समान है।

इस प्रकार रात्रि के समय भोजन करने मे
को जानकर मन, वचन, कर्म से रात्रि-भोजन
है।

आत्मबल से मिथ्यात्व हटता है

बाह्य अधिक लेने से मिथ्यात्व (मोह) नाश कर
जीव सोचे पर यह बनता नहीं, क्योंकि जैसे
ज्वार-बाजरे के हजारों पूलें खा गया हो, वह
से नहीं डरता, वैसे मिथ्यात्वरूपी पाड़ा जो
अनन्तानुबन्धी कषाय से अनन्त चारित्र खा
तिनकारूपी बाह्य व्रत से कैसे डरे? पर जैसे
से बाँधे तो आधीन हो जाये, वैसे मिथ्यात्वरूपी पाड़े
के बलरूपी बन्धन से बाँध दे तो आधीन हो
आत्मा का बल बढ़े तो मित्यात्व घटे।—

जैन गृहस्थ के नियम

(जैन नियम पोथी—ब्र सीतलप्रसादजी के आधार से)

नियम पहला

सम्यक्त्व-प्रतिज्ञा

मैं, १-श्री अरहंतदेव, (जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी ऐसे तीन गुण सहित हैं)। २-श्री निर्ग्रन्थ गुरु, (जो परिग्रह रहित ज्ञान ध्यान, तप में लीन है) ३.-श्री केवली भगवान का कहा हुआ धर्म (जो सर्व प्राणियों को दयारूप और स्वरूप सुखमयी है) इन तीनों की श्रद्धा करता हूँ। इनके सिवाय किसी दूसरे देव, गुरु और धर्म को सच्चा नहीं समझूँगा। इनकी प्रतीति दृढ़ रखने के लिए निम्नलिखित कार्य करूँगा-

(क) एक णमोकारमंत्र की माला रोज फेरूँगा। यदि रोगादिक हो जाय तो छूट, फिर भी यथाशक्ति जपूंगा।

(ख) श्री जिनप्रतिमा का दर्शन रोज करूंगा यदि रोगादिक होने या परदेश में जिनमन्दिरजी के न होने के कारण दर्शन न बन सकें तो पूर्व और उत्तर की तरफ मुँह करके परोक्ष रीति से दर्शन करूँगा और वही स्तुतियां पढूँगा जो प्रतिमा जी के सामने प्रत्यक्ष में पढ़ा करता हूँ। यदि बेहोश और अशक्त होऊं तो क्षमा।

(ग) शास्त्र-स्वाध्याय रोज करूँगा और सुनूँगा। यदि रोग, सूतक-पातक या परदेशगमन में न बन सके तो छूट।

(घ) जल छानकर पियूँगा।

मिती

दिनांक   ह नियमकर्त्ता

नियम दूसरा

१— स्थूल-अहिंसा-अणुव्रत

(१) मैं संकल्प करके त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूँगा; आरम्भ-परिग्रह में अनजानी हिंसा हो उसकी छूट।
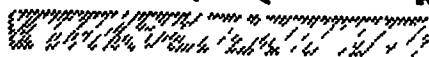
(२) मै किसी भी प्रकार के अण्डा, मॉस, खाऊँगा।

(३) मै मदिरा (शराब) नहीं पीऊँगा, क्योकि त्रस जीवो का घात होता है और यह चित्त को अज्ञानी

(४) मै अफीम, गॉजा, चरस, भॉग को न पिऊँगा, क्योकि ये आत्मा के स्वभाव को बिगाडते हैं, के वास्ते छूट।

(५) मै तम्बाकू नही पीऊँगा और न बीडी, पीऊँगा, क्योकि ये सभी कलेजे को जलाते हैं।

(६) मैं मधु (शहद) नहीं खाऊँगा, क्योकि इसके चौ-इन्द्री मधुमक्खियो का घात होता है।

(७) मैं पशु, पक्षी, मछली आदि जीवो का शिकार

मिती

दिनाक ह

नियम तीसरा

२— स्थूल-सत्य-अणुव्रत

मैं अपने और दूसरे के विषय-कषायो की पुष्टि या धनादि की प्राप्ति के वास्ते झूँठ नही बालूँगा। व्यापार मूल्य अपनी इच्छानुसार मॉगूँगा, परन्तु जब कोई खरीद के तो सत्य कहुँगा।

मिती

दिनाक ह

नियम चौथा

३— स्थूल-अचौर्य्य-अणुव्रत

(१) मै ऐसी चोरी नहीं करूँगा और न कराऊँगा राजा और पंच दण्ड दे सकें।

(२) मै जिस माल को मन में समझूँगा कि चोरी

नहीं खरीदूँगा।

(३) मैं राज्य का कर, रेल के टिकट का दाम और माल का किराया आदि नहीं छिपाऊँगा।

(४) मैं अपने लेन-देन में नाप-तौल के मीटर, बाँट एक सरीखे ठीक रक्खूँगा।

(५) मैं सच्ची में झूँठी या बढ़ती में कमती मूल्य की चीज मिलाकर सच्ची और बढ़िया कह करके नहीं बेचूँगा।

मिती

दिनांक ह नियमकर्त्ता

नियम पाँचवाँ

४— स्थूल-स्वस्त्रीसन्तोष-ब्रह्मचर्य व्रत

(यह व्रत पुरुष को स्त्री के सम्बन्ध में और स्त्री को पुरुष के सम्बन्ध में लेना उचित है)

(१) मैं अपनी विवाहिता स्त्री (या पति) के सिवाय अन्य वेश्या या पराई स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करूँगा।

(२) मैं अपनी स्त्री (या पति) के साथ में एक मास में इतने ( ) काम-सेवन करूँगा और अष्टमी, चतुर्दशी को नहीं करूँगा।

(३) मैं जो काम सेवन का अंग है उसको छोडकर अन्य किसी भी अग से काम-सेवन न करूँगा।[1]

(४) मैं इतने ( ) वर्ष के ऊपर अपनी स्त्री के मरने पर फिर विवाह न करूँगा।[2]

(५) मैं इतने ( ) वर्ष की अवस्था के पहले विवाह न करूँगा, क्योंकि बाल्यावस्था के विवाह बहुत हानिकारक होते हैं।[3]

---

1 पुरुष और स्त्री के मूत्र स्थान को छोडकर अन्य अंग से काम सेवन करना मना है।

2 पुत्र रहित को ४५ और पुत्र सहित को ४0 वर्ष के ऊपर ब्याह नहीं करना चाहिए।

3 २१ वर्ष से कम लडका और १८ वर्ष से कम की लडकी का विवाह बालविवाह है।

(६) मै इतने (   ) वर्ष तक, जब तक मै
पूरा ब्रह्मचर्य पालूँगा अर्थात किसी प्रकार अपने वीर्य क
करूँगा।

क्योंकि विद्या का लाभ ब्रह्मचारी को सहज मे

(७) मै वेश्या का नृत्य न कराऊँगा और न

मिती

दिनाक ह

नियम छठा

५— स्थूल-परिग्रह-परिमाण-व्रत

(१) क्षेत्र - मै उघाड़ी तथा खेती के योग्य इतने
जमीन (   ) रखता हूँ।

(२) वास्तु - मै घर, कोठी, बाग, कारखाने, गोदाम
(   ) रखता हूँ; इनसे अधिक नहीं बनाऊँगा, पर क
सकता हूँ।

(३) हिरण्य - मै चाँदी इतने किलो (   ) तथा
आदि धन इतना (   ) रखता हूँ। इससे ज्यादा पैदा
उसे धर्म कार्य मे खर्च करूँगा।

(४) सुवर्ण -- मै सोना इतने (   ) तोला तथा
आभूषण गिनती मे इतने (   ) रखता हूँ।

(५) धन - मै दूध देने वाले गाय-भैसादि पशु
रखता हूँ तथा सवारी के लिए घोड़े, बैल, वाहन इतने (
हूँ।

(६) धान्य - मै इतनी जाति का धान्य रखता हूँ
भोजन खर्च के लिए इतने (   ) मास से अधिक का
करूँगा।[1]

1. एक महिने के खर्च से ज्यादा अनाज घर में रखना
कारण घुन लग जावे तो खाना पडे।

(७) दासी - मैं इतनी (   ) नौकरानियों से अधिक काम-काज के वास्ते नहीं रक्खूँगा।

(८) दास - मैं इतने (   ) नौकरों से अधिक नहीं रक्खूँगा।

(९) कुप्य - मैं रुई आदि जातियों के वस्त्र इतने (   ) जोड़े से अधिक अपने पास नहीं रक्खूँगा।

(१0) भांड - मैं सर्वधातु या इतनी (   ) धातुओं के बरतन तौल में इतने (   ) किलो और गिनती में इतने (   ) रखता हूँ। इतने किलो और गिनती में इतने (   ) रखता हूँ। इससे अधिक कोई समय काम में न लाऊँगा।

मिती

दिनांक   ह. नियमकर्त्ता

नियम सातवाँ

६— स्थूल-दिक्परिमाण-व्रत

मैं चारों दिशाओं में हरेक में इतने (   ) कि.मी. तक और चारों विदिशाओं में हरेक इतने ( ) कि.मी. तक और ऊपर इतनी-इतनी दूर तथा नीचे इतनी (   ) दूर जाऊँगा, पर धर्मकार्य के वास्ते सब जगह जा सकता हूँ। इसके सिवा पत्रव्यवहार, कोई चीज-वस्तु मँगाना या आदमी भेजना आदि में कर सकूँगा।

मिती

ता   ह. नियमकर्त्ता

नियम आठवाँ

७— स्थूल-देशव्रत-व्रत

ऊपर दिग्व्रत में जितना परिमाण किया है उसमें से रोज का दशों दिशाओं में जाने का परिमाण इतने (   ) रोज के वास्ते प्रतिदिन इतने (   ) कि. मी का रखता हूँ।

मिती

ता.   ह नियमकर्त्ता

मिती

दिनांक   ह नियमकर्त्ता

नियम बावड़ा

११.— स्थूल-भोगोपभोग-परिमाण व्रत

मैं आगे लिखे १७ नियम रोज करूँगा।

भोजने[1] षट्रसे[2] पाने[3], कुङ्कुमादिविलेपने[4]।
पुष्प[5] - ताम्बूल[6] - गीतेषु,[7] नृत्यादौ[8] ब्रह्मचर्यके[9]॥
स्नान[10] - भूषण[11] - वस्त्रादौ[12] वाहने[13] शयना[14] सने[15]
सचितवस्तु[16] संख्यादौ[17] प्रमाणं भज प्रत्यहं॥

नाम	कितनी दफे	परिणाम तौल	कितनी संख्या
१ भोजन			
२. षट्रस-दूध, दही, तेल, घी, मीठा, नमक।			
३. पान (पीने) की वस्तु			
४. कुंकुमादिविलेपन-सुगन्ध, तेल का लेपादि			
५ पुष्प-फूल सूंघना			
६ पान-सुपारी आदि			
७ संसारी गान-नाटकादि			
८ नृत्य-संसारी			
९. ब्रह्मचर्य-कामसेवन			
१0 स्नान			
११. वस्त्र			
१२ आभूषण			
१३. वाहन-हाथी, घोड़ा, बैल आदि अन्य सवारी			
१४ शयन-शय्यादि			
१५. आसन-चोकी, कुरसी, फर्स आदि			
१६. सचित्त पदार्थ			
१७ अन्य वस्तु			

अंधा, या अन्य असमर्थ व्यक्ति।

२. मैं दान की प्रवृत्ति के लिए अपने पास एक गोलक रक्खूँगा, जिसमें कुछ न कुछ रोज डालता रहूँगा। साल के अन्त में उसे ज्ञान-दानादि में खर्च कर दूंगा।

मिती

ता ह नियमकर्त्ता

यहाँ पर जो नियम बतलाये गये हैं, वे दर्शन प्रतिमा और व्रत प्रतिमा को लक्ष्य में न करके वर्तमान समय में बढ़ रही स्वच्छन्द व अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने के लिए एवं सदाचार, नियम आदि की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन हेतु दिया गया है। साधर्मीजनों के लिए विशेष उपयोगी है। श्रावक को ये व्रत-नियम आदि अशुभमार्ग से बचाने में निमित्त है। अतः इनका पालन अवश्यमेव शक्ति अनुसार करना चाहिए।

जैन धर्म की आम्नाय

जैन धर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैन धर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; जिसका त्याग करे उसका दोष पहचाने; त्याग करने में जो गुण हो उसे जाने, फिर अपने परिणामों को ठीक करें; वर्तमान परिणामों के भरोसे ही प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करें। इस प्रकार विचार करके प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादर भाव न हो। परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैन धर्म की आम्नाय है।

मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २४०

११. विभाव-परिणाम शून्योऽहम्।
मैं विभाव परिणाम से रहित हूँ।

१२. निजनिरंजन स्वरूपोऽहम्।
मैं अपने निरंजन रूप वाला हूँ।

१३ स्वशुद्धात्म सम्यग्श्रद्धान परिणतोहम्।
मैं अपने शुद्ध आत्मा के सम्यग्श्रद्धान में परिणत हूँ।

१४ भेदज्ञानानुष्ठान परिणतोऽहम्।
मैं भेदज्ञान के अनुष्ठान में परिणत हूँ।

१५. अभेद रत्नत्रय रूपोऽहम्।
मैं अभेद रत्नत्रय रूप हूँ।

१६. निर्विकल्पसमाधि संजातोऽहम्।
मैं निर्विकल्प समाधि वाला हूँ।

१७. वीतरागसहजानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं वीतराग सहज आनन्द स्वरूप हूँ।

१८ अत्यानन्द रूपोऽहम्।
मैं अति आनन्द रूप हूँ।

१९ स्वसंवेदनज्ञानामृत भरितोऽहम्।
मैं स्व संविदन ज्ञानरूपी अमृत से पूर्ण हूँ।

२०. ज्ञायकैक स्वाभावोऽहम्।
मैं एक ज्ञायक स्वाभाव वाला हूँ।

२१. सहजशुद्धपारिणामिक स्वभाव रूपोऽहम्।
मैं सहज शुद्ध एक पारिणामिक स्वाभाव रूप हूँ।

२२ सहजशुद्धज्ञानानदैक स्वाभावोऽहम्।
मैं सहज शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभाव रूप हूँ।

२३. महाचलन निर्भरानन्द रूपोऽहम्।
मैं नित्य और पूर्ण आनन्द रूप हूँ।

२४. चिन्मात्रमूर्ति स्वरूपोऽहम्।
मैं चिन्मात्र मूर्ति स्वरूप हूँ।

२५. चैतन्यरत्नाकर स्वरूपोऽहम्।
चैतन्य रूपी समुद्र मेरा स्वरूप है।

२६. चैतन्यामर द्रुम स्वरूपोऽहम्।
चैतन्य रूपी कल्पवृक्ष मेरा स्वरूप है।

२७ चैतन्यामृत-आहार स्वरूपोऽहम्।
मैं चैतन्य रूपी का आस्वाद लेने १९

२८. ज्ञानपुज स्वरूपोऽहम्।
मैं ज्ञान पुंज स्वरूप हूँ।

२९. ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूपोऽहम्।
ज्ञानरूपी अमृत का प्रवाह मेरा स्वरूप है।

३०. चैतन्यरस रसायन स्वरूपोऽहम्।
मैं चैतन्य रस रूप रसायन (औषध) हूँ।

३१. चैतन्यचिन्मय स्वरूपोऽहम्।
मैं चैतन्य चिन्मय स्वरूप हूँ।

३२. चैतन्यकल्याण वृक्ष स्वरूपोऽहम्।
मैं चैतन्य रूप कल्याण वृक्ष हूँ।

३३. ज्ञानज्योति स्वरूपोऽहम्।
मैं ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ।

३४. ज्ञानार्णव स्वरूपोऽहम्।
मैं ज्ञान रूपी समुद्र हूँ।

३५. निरूपनिर्लेप स्वरूपोऽहम्।
मैं उपमा रहित कर्म लेप रहित हूँ।

३६. निरवय स्वरूपोऽहम्।
मैं निर्दोष स्वरूप हूँ।

३७ शुद्धचिन्मात्र स्वरूपोऽहम्।
मैं शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप हूँ।

३८ अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहम्।
मैं अनन्त ज्ञान स्वरूप हूँ।

३९. अनन्तदर्शन स्वरूपोर्शऽहम्।
मैं अनन्त दर्शन स्वरूप हूँ।

४०. अनन्तवीर्य स्वरूपोऽहम्।
मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ।

४१. अनन्तसुख स्वरूपोऽहम्।
मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ।

४२. सहजानन्द स्वरूपोऽहम्।
मै स्वाभाविक आनन्द रूप हूँ।

४३. परमानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं परम आनन्द स्वरूप हूँ।

४४ परमज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं परम ज्ञान रूप आनन्द वाला हूँ।

४५ सदानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं सदा आनन्द स्वरूप हूँ।

४६. चिदानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ।

४७. निजानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं निजानन्द स्वरूप हूँ।

४८. सहजसुखानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं स्वाभाविक सुख रूप आनन्द वाला हूँ।

४९. नित्यानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं नित्य आनन्द स्वरूप हूँ।

५०. शुद्धात्म स्वरूपोऽहम्।
मैं शुद्धात्म (शुद्ध आत्म) रूप हूँ।

५१ परमज्योति स्वरूपोऽहम्।
मैं परम ज्योति स्वरूप हूँ।

५२. स्वात्मोपलब्धि स्वरूपोऽहम्।
मैं स्वोत्मोपलब्धि रूप हूँ।

५३ शुद्धात्म संवित्ति स्वरूपोऽहम्।
मैं शुद्ध आत्म ज्ञान रूप हूँ।

५४. भूतार्थ स्वरूपोऽहम्।
मैं यथार्थ स्वरूप हूँ।

५५ परमार्थ स्वरूपोहम्।
मैं परमार्थ स्वरूप हूँ।

५६. समयसारसमूह स्वरूपोऽहम्।
मैं समयसार (शुद्ध आत्मा) समूह रूप हूँ।

५७. अध्यात्मसार स्वरूपोऽहम्।
मैं अध्यात्म स्वरूप हूँ।

५८. परममंगल स्वरूपोऽहम्।
मैं परम मंगल स्वरूप हूँ।

५९ परमोत्तम स्वरूपोऽहम्।
मैं परम उत्तम स्वरूप हूँ।

६० सकलकर्मक्षयकारण स्वरूपोऽहम्।
मैं सर्व कर्म क्षय का कारण स्वरूप हूँ।

६१. परमाद्वैत स्वरूपोऽहम्।
मैं परम अद्वैत (अभिन्न एक) स्वरूप हूँ।

६२. शुद्धोपयोग स्वरूपोऽहम्।
मैं शुद्ध उपयोग स्वरूप हूँ।

६३. निश्चयषडावश्यक स्वरूपोऽहम्।
मैं निश्चय छः आवश्यक रूप हूँ।

६४ परमसमाधि स्वरूपोऽहम्।
मैं परम समाधि स्वरूप हूँ।

६५. परमस्वास्थ्य स्वरूपोऽहम्।
मैं परम स्वास्थ्य (आत्मलीनता) स्वरूप हूँ।

६६ परमस्वाध्याय स्वरूपोऽहम्।
मैं परम स्वाध्याय (आत्मावलोकन) रूप हूँ।

६७. परमभेदज्ञान स्वरूपोऽहम्।
मैं परम भेद ज्ञान स्वरूप हूँ।

६८. परमसम्वेदन स्वरूपोऽहम्।
मैं उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप हूँ।

६९ परमसमरसी भाव स्वरूपोऽहम्।
मैं उत्कृष्ट समता रूप हूँ।

७० केवलज्ञान स्वरूपोऽहम्।
मैं केवलज्ञान स्वरूप हूँ।

७१ केवलदर्शन स्वरूपोऽहम्।
मैं केवलदर्शन स्वरूप हूँ।

७२. अनन्तवीर्य स्वरूपोऽहम्।
मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ।

७३. परमसूक्ष्म स्वरूपोऽहम्।
मैं परम सूक्ष्म स्वरूप हूँ।

७४. अवगाहन स्वरूपोऽहम्।
मैं अवगाहन स्वरूप हूँ।

७५. अगुरुलघु स्वरूपोऽहम्।
मैं अगुरु लघु स्वरूप हूँ।

७६ अव्याबाध स्वरूपोऽहम्।

मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ।

७७ अष्टविधकर्म रहितोऽहम्।

मैं आठ कर्मों से रहित हूँ।

७८ निरंजन स्वरूपोऽहम्।

मैं निरंजन स्वरूप हूँ।

७९ नित्योऽहम्।

मैं नित्य हूँ।

८० अष्टगुण सहितोऽहम्।

मैं आठ गुण सहित हूँ।

८१ कृतकृत्योऽहम्।

मैं कृतकृत्य हूँ।

८२ लोकाग्र निवास्यऽऽहम्।

मैं लोकाग्र निवासी हूँ।

८३ अनुपमोऽहम्।

मैं अनुपम हूँ।

८४ अचिन्तयोऽहम्।

मैं अचिन्तय हूँ।

८५ अतर्क्योऽहम्।

मैं अतर्क्य (तर्क करने योग्य नहीं) हूँ।

८६ प्रमेयस्वरूपोऽहम्।

मै प्रमेय (प्रमाण का विषय) स्वरूप हूँ।

८७ अतिशयस्वरूपोऽहम्।

मैं अतिशय (असामान्य) स्वरूप हूँ।

८८ अक्षयस्वरूपोऽहम्।

मैं अक्षय स्वरूप हूँ।

८९. शाश्वतोऽहम्।
मैं नित्य हूँ।

९० शुद्ध स्वरूपोऽहम्।
मैं शुद्ध स्वरूप हूँ।

९१. सिद्धस्वरूपोऽहम्।
मैं सिद्ध स्वरूप हूँ।

९२. सत्तात्मकसिद्ध स्वरूपोऽहम्।
मैं सत्तात्मक सिद्ध स्वरूप हूँ।

९३. अनुभवात्मकसिद्ध स्वरूपोऽहम्।
मैं अनुभवात्मक सिद्ध स्वरूप हूँ।

९४. सोऽहम शुद्धोऽहम्।
जैसे सिद्ध है-वैसा मैं हूँ। मैं शुद्ध हूँ।

९५. चित्कला स्वरूपोऽहम्।
मैं चित्कला स्वरूप हूँ।

९६. चैतन्यपुंज स्वरूपोऽहम्।
मैं चैतन्य पुंज स्वरूप हूँ।

९७. सदानन्द स्वरूपोऽहम्।
मैं सदानन्द स्वरूप हूँ।

९८. परमशरण्योऽहम्।
मैं परम शरण रूप हूँ।

९९. स्वयंभूरऽहम्।
मैं स्वयंभू हूँ।

१००. अतिशयातिशयातीत-अमूर्तानन्त सुख स्वरूपोऽहम्।
मैं अतिशयों के अतिशय से रहित अमूर्त अनन्तसुख स्वरूप हूँ।

अविनाशी आत्मा की प्रमुख ४७

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। उनमें से प्रमुख ४७ की विशेष शक्तियाँ हैं, जो भवतापनाशिनी हैं–

१ जीवत्वशक्ति	आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे भाव का धारण जिसका जीवत्वशक्ति आत्मा मे छ
२ चितिशक्ति	अजडत्वस्वरूप चितिशक्ति।
३ दृशिशक्ति	अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति
४. ज्ञानशक्ति	साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति
५ सुखशक्ति	अनाकुलता जिसका लक्षण सुखशक्ति।
६. वीर्यशक्ति	स्वरूप की रचना की सामर्थ्यरूप
७ प्रभुत्वशक्ति	अखण्डित प्रताप स्वातंत्र्य शक्ति।
८ विभुत्वशक्ति	सर्वभाव व्यापक ऐसे एक विभुत्वशक्ति।
९. सर्वदर्शित्व शक्ति	समस्त विश्व के सामान्य भाव रूप से परिणमित ऐसे सर्वदर्शित्व शक्ति।
१०. सर्वज्ञत्वशक्ति	समस्त विश्व के विशेषभावों को से परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी शक्ति।
११ स्वच्छत्वशक्ति	दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति की की स्वच्छत्वशक्ति से उसके लोकालोक के आकार प्रतिभासित
१२ प्रकाशशक्ति	स्वयं प्रकाशमान विशद ऐसी प्रकाशशक्ति।

१३	असंकुचित विकाशत्वशक्ति	क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसी चिद्विलासस्वरूप असंकुचित विकाश शक्ति।
१४.	अकार्यकारणत्वशक्ति	जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति।
१५.	परिणम्य परिणामकत्वशक्ति	पर और स्व जिनके निमित्त हैं ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभाव रूप परिणम्मय-परिणामकत्वशक्ति।
१६	त्यागोपादान शून्यत्वशक्ति	जो कम बढ़ नहीं होता ऐसे स्वरूप में नियतत्त्वरूपशक्ति।
१७.	अगुरुलघुत्वशक्ति	षटस्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमित, स्वरूप प्रतिष्ठित का कारणरूप ऐसा जो विशिष्ट गुण है उस स्वरूपशक्ति।
१८	उत्पादव्यय-ध्रुवत्वशक्ति	क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्त्तन जिसका लक्षण है ऐसी शक्ति।
१९.	परिणामशक्ति	द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित, सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमयी परिणामशक्ति।
२०	अमूर्तत्वशक्ति	कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य ऐसे आत्मप्रदेश स्वरूप अमूर्तत्वशक्ति।
२१.	अकर्तृत्वशक्ति	जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों से किये गये परिणामों का कर्त्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व शक्ति।
२२	अभोक्तृत्वशक्ति	समस्त, कर्मों से किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के अनुभव की उपरमस्वरूप

		अभोक्तृत्व शक्ति।
२३	निष्क्रियत्वशक्ति	समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त की निस्पन्दतास्वरूप शक्ति।
२४	नियतप्रदेशत्वशक्ति	जो अनादि संसार से लेकर से लक्षित है और जो चरमशरीर से कुछ न्यून परिमाण से लोकाकाश के माप जितना अवयवत्व जिसका लक्षण नियतप्रदेशत्वशक्ति।
२५	स्वधर्म-व्यापकत्वशक्ति	सर्वशरीरों में एकस्वरूपात्मक स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति।
२६.	साधरण-असाधारण साधारणासाधारण धर्मत्वशक्ति	स्व-पर के समान, असमान और ऐसे तीन प्रकार के भावों की
२७.	अनन्तधर्मत्वशक्ति	विलक्षण अनन्त स्वभावों से एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी
२८	विरूद्धधर्मत्वशक्ति	तदरूपमयता और अतदरूपमयता लक्षण है ऐसी विरूद्धधर्मत्व
२९.	तत्त्वशक्ति	तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति
३0	अतत्त्वशक्ति	अतद्रूप भवनरूप ऐसी
३१	एकत्वशक्ति	अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसी एकत्वशक्ति।
३२	अनेकत्वशक्ति	एक द्रव्य से व्याप्य जो उसमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति।
३३.	भावशक्ति	विद्यमान अवस्था युक्ततारूप
३४.	अभावशक्ति	शून्य अवस्था युक्तारूप

३५. भावाभावशक्ति	भवते हुए पर्याय के व्ययरूप शक्ति।
३६ अभावभावशक्ति	नहीं भवते हुए पर्याय के उदयरूप शक्ति।
३७. भावभावशक्ति	भवते हुए पर्याय के भवन रूप भावभावशक्ति।
३८. अभावाभावशक्ति	नहीं भवते हुए पर्याय के अभवनरूप अभावाभाव शक्ति।
३९. भावशक्ति	कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी भावशक्ति।
४०. क्रियाशक्ति	कारकों के अनुसार परिणमित होने रूप भावमयी क्रियाशक्ति।
४१ कर्मशक्ति	प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति।
४२ कर्तृत्वत्वशक्ति	होने रूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृत्व शक्ति।
४३. करणत्वशक्ति	भवते हुए भाव के भवन के साधकतममयी करणत्वशक्ति।
४४. सम्प्रदानशक्ति	अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय सम्प्रदानशक्ति।
४५. अपादानशक्ति	उत्पादव्यय से आलिंगित भाव का अपाय होने से हानि को प्राप्त न होने वाले ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति।
४६. अधिकरणशक्ति	भाव्यमान भाव के आधारत्वमयी अधिकरण शक्ति।
४७ सम्बन्धशक्ति	स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति।

इत्यादि अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है।

(समयसार परिशिष्ट से)

अमूल्य तत्त्व विचार

(कविवर — श्रीमद् राजचन्द्र, अनु. [illegible])

बहु पुण्य-पुंज-प्रसंग से शुभ देह मानव ।
तो भी अरे! भवचक्र का फेरा न एक कम
सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुक्ख जाता
तू क्यों भयंकर-भावमरण-प्रवाह में चकचूर
लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि? कुछ नाहिं
संसार का बढ़ना अरे! नर देह की यह
नहीं एक क्षण तुमको अरे! इसका विवेक विचार
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी
यह दिव्य अन्तःतत्त्व जिससे बन्धनों से छु
परवस्तु में मूर्छित न हो इसकी रहे तुमको
वह सुख सदा ही त्याज्य रे! पश्चात् जिसके दुःख न
मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप
सम्बन्ध दुःखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर
तो सर्व आत्मिक-ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजि
किसका वचन उस तत्त्व की उपलब्धि में शिव
निर्दोष नर का वचन रे! वह स्वानुभूति
तारो अहो तारो निजात्मा शीघ्र अनुभव
'सर्वात्म में समदृष्टि दो' यह वच हृदय लिख लीजि'

अपूर्व अवसर

(कविवर — श्रीमद् राजचन्द्र कृत)

अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा।।टेक।।
यह अपूर्व अवसर मेरा कब आएगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ मैं।
सब प्रकार के मोहबन्ध को तोड़कर,
कब विचरूंगा महत् पुरुष के पन्थ में।।
भव्य दिगम्बर मुनि मुद्रा को पाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा।। १ ।।
पर भावों से उदासीनता ही रहे,
मात्र देह तो हो संयम हित साधना।
अन्य किसी कारण से अन्य न ग्राह्य हो,
हो न देह के प्रति ममत्व की भावना।।
यह वैराग्य हृदय में जब बस जाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा।।२ ।।
दर्शन मोह व्यतीत हो गया ज्ञान यह,
देह भिन्न है मै तो चेतन शुद्ध हूँ।
चारित्र मोह विशेष क्षीण अनुभव करूं,
मैं तो शुद्ध स्वरूप ज्ञानघन बुद्ध हूँ।।
यह दृढ़ निश्चय अन्तस्तल में छाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा।। ३ ।।
आत्मस्थिरता मन-वच काया योग की,
मुख्य रूप से रहे देह पर्यन्त हो।

कितने भी उपसर्ग घोर परिषह बने,
तो भी मेरी स्थिरता का ना अन्त हो॥
निज स्वभाव मे हृदय कमल मुसकाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥४॥
सयम के हित होवे योग प्रवर्तना,
जिन आज्ञानुसार करू पुरुषार्थ मै।
क्षण-क्षण घटते रहे विकल्प निमित्त के,
करूँ अन्त मे निज स्वरूप चरितार्थ मै॥
आत्मज्ञान ही मुझे मोक्ष पहुँचाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥५॥
पच विषय मे राग-द्वेष कुछ हो नहीं,
पच प्रमाद न करूँ बनू न मलीन मै।
द्रव्य क्षेत्र औ काल भाव प्रतिबन्ध बिन,
बीतलोभ बन विचरू उदयाधीन मै॥
सम्यक्दर्शन ज्ञानचरित्र निभाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥६॥
क्रोध भाव हो तो मै नाशू क्रोध को,
मान भाव यदि हो तो रहूँ विनीत हो।
माया जागे तो माया को क्षय करूँ,
लोभ जगे सन्तोष भाव की जीत हो॥
चार कषायों मे ना मन अटकाएगा।
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥७॥

नग्न दिगम्बर मुण्डभाव अस्नानता,
अदन्त धोवन आदि महान प्रसिद्ध हैं।
केश रोम नख आदि अङ्ग शृङ्गारना,
द्रव्य-भाव संयममय मुनि ज्यों सिद्ध है॥
यह मनुष्य भव सफल अरे हो जाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥८॥
शत्रु मित्र के प्रति वर्तूं समदर्शिता,
मान अमान न छोड़ स्वयं स्वभाव का।
जन्म-मृत्यु पर हर्ष शोक कुछ हो नहीं,
बन्ध मोक्ष के प्रति वर्तूं समभाव को॥
उग्र निर्जरा द्वारा कर्म झराएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥९॥
एकाकी विचरूँ निर्जन शमशान में,
वन पर्वत में मिलें सिंह संयोग से।
आसन रहे अडोल न मन मे क्षोभ हो,
परम मित्र मम जानूँ पाये योग से॥
तत्त्व भावना हृदय रात-दिन भाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१०॥
घोर तपश्चर्या से मन को खेदना,
नहीं सरस भोजन से मिले प्रसन्नता।
रजकण से लेकर वैमानिक ऋद्धि तक,
सब पुद्गल पर्याय रूप की भिन्नता॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध आत्मगुण गाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥११॥

इस प्रकार चारित्र मोह को जीत लूँ,
आऊँ जहाँ अपूर्व करण का भाव हो।
श्रेणी क्षपक चढ़ूँ निज के आरूढ़ हो,
नित्य निरंजन अतिशय शुद्ध स्वभाव हो॥
ज्ञान सूर्य का निर्मल उजाला छाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१२॥

मोह स्वयंभूरमण उदधि को पारकर,
क्षीण मोह गुणस्थान निकट हो जाएगा।
वीतराग पूर्ण स्वरूप निज आत्म में,
केवलज्ञान निधान प्रगट हो जाएगा॥
रागादिक अष्टादश दोष मिटाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१३॥

चार घातिया कर्म नष्ट जब हो गए,
भव का बीज मिट इस भव से वो गए।
सर्व भाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृत कृत्य प्रभु वीर्य ज्ञान जिन हो गए॥
यह सर्वज्ञ स्वरूप मुझे मिल जाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१४॥

वेदनीय आदिक चउ कर्म रहे अभी,
जली हुई रस्सीवत छाया मात्र है।
देहायुष आधीन रहेंगे जब तलक
आयु पूर्ण छूटता देह का पात्र है॥
ज्ञान शिरोमणि परम शांत रस पाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥१५॥

मन-वच-काया से कर्मों की वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल सम्बन्ध सब।
यही अयोगी गुणस्थान हो जाएगा,
महा भाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध अब॥
जन्म-मृत्यु से रहित अवस्था पाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥ १६ ॥

रहा नही परमाणु मात्र स्पर्श भी,
पूर्ण कलंक विहीन अडोल स्वरूप हो।
शुद्ध निरञ्जन चेतन मूर्ति अनन्य मय,
अगुरु लघु सु अमूर्त सहज पद रूप हो॥
अविचल अविकल स्वयं सिद्ध गुण गाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥ १७ ॥

पूर्व प्रयोगादिक कारण के योग से,
ऊर्ध्व गमन हो सिद्धालय सुनिवास हो।
सादि अनन्त अनन्त समाधि सुखी सदा,
अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त प्रकाश हो॥
अविनाशी अधिकार परम पद पाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥ १८ ॥

जो जाना सर्वज्ञ देव ने ज्ञान में,
उसे न तीर्थंकर की वाणी कह सकी।
अनुभव गोचर मात्र ज्ञान है यह अरे,
उस स्वरूप को किसकी वाणी कह सकी॥
सब कुछ स्वागत अनुभव से दरशाएगा,
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा॥ १९ ॥

यही परम पद प्राप्त कर सकूँ ध्यान मे,
मनन चिन्तवन आत्म मनोरथ रूप को।
तो यह निश्चय 'राजचन्द्र' मन मे धरो,
प्रभु आज्ञा से पाऊँ स्वय स्वरूप को।।
यही मार्ग जीवन को सफल बनाएगा,
समयसार का सार मुझे मिल जाएगा।
अपूर्व अवसर ऐसा कब प्रभु आएगा।।२०।।

आत्म सम्बोधन

समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचितन की .
भव उदधि तन अथिर नौका, बीच मँझधारा पड़ी है।
आत्म से है पृथक तन-धन, सोच रे मन कर रहा
लखि अवस्था कर्मजड़ की, बोल उनसे डर रहा
ज्ञान-दर्शन चेतना सम, और जग मे कौन
दे सके दुख जो मुझे वह, शक्ति ऐसी कौन
कर्म सुख-दुख दे रहे हैं, मान्यता ऐसी क
चेत! चेतन प्राप्त अवसर, आत्मचिन्तन की घड़ी है
जिस समय हो आत्मदृष्टि, कर्म थर थर काप
भाव की एकाग्रता लखि, छोड़ खुद ही ।
ले समझ से काम या फिर, चतुर्गति ही मे ।वच
मोक्ष अरु संसार क्या है, फैसला खुद ही म-
दूर कर दुविधा हृदय से, फिर कहाँ धोखा
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्मचिन्तन की घड़ी है

कुन्दकुन्दाचार्य गुरुवर, यह सदा ही कहि रहे है।
समझना खुद ही पड़ेगा, भाव तेरे बहि रहे हैं॥
शुभ क्रिया को धर्म माना, भव इसी से धर रहा है।
है न पर से भाव तेरा, भाव खुद ही कर रहा है॥
है निमित्त पर दृष्टि तेरी, बान ही ऐसी पड़ी है।
चेत! चेतन प्राप्त अवसर, आत्म चिंतन की घड़ी है॥३॥

भाव की एकाग्रता रुचि, लीनता पुरुषार्थ करले।
मुक्ति बन्धन रूप क्या है, बस इसी का अर्थ करले॥
भिन्न हूँ पर से सदा मैं, इस मान्यता में लीन हो जा।
द्रव्य-गुण-पर्याय ध्रुवता, आत्म सुख चिर नीद सो जा॥
आत्म गुण धर लाल अनुपम, शुद्ध रत्नत्रय जड़ी है।
समझ उर धर कहत गुरुवर, आत्म चिंतन की घड़ी है॥४॥

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने मैं स्वयं पूर्ण, पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं।
मैं अरस, अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं॥
मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ॥
मैं ही कर्त्ता-धर्त्ता, मुझ में पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ, पर में मेरा विश्राम नहीं॥
मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक, पर-परणति से अप्रभावी हूँ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ॥

—डॉ हुकमचन्द भारिल्ल

निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे ।
निर्मल-जल की सरिता सदृश, हिय मे निर्मल ज्ञान वहे ॥११॥

मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे ।
गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे ॥१२॥

दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये ।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे ॥१३॥

जो भव-दु ख का विध्वसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान ।
योगी-जन के ध्यानगम्य वह, वसे हृदय मे देव महान ॥१४॥

मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म मरण से परम अतीत ।
निष्कलक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप ॥१५॥

निखिल विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे ।
शुद्ध अतीद्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे ॥१६॥

देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म-कलक-विहीन विचित्र ।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र ॥१७॥

कर्म-कलक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्य प्रकाश ।
मोह तिमिरको भेद चला जो, परमशरण मुझको वह आप्त ।१८।

जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पडता सूर्य प्रकाश ।
स्वय ज्ञानमय स्वपर-प्रकाशी, परमशरण मुझको वह आप्त॥१९॥

जिसके ज्ञानरूप दर्पण मे, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ ।
आदिअन्त से रहित शात शिव, परम शरण मुझको वह आप्त॥२०॥

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव ।
भय-विषाद चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव॥२१॥

न सस्तरो भद्रसमाधिसाधन, न लोकपूजा न च स
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश,विमुच्यसर्वामपि बाह्यवास
न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषा न कदा
इत्थ विनिश्चित्य विमुच्य बाह्य ,स्वस्थ सदात्व भव भद्र
आत्मानमात्मान्यवलोकमानस्त्व दर्शनज्ञानमयो वि
एकाग्रचित्त खलु यत्र तत्र, स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम
एक सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मल साधिगमस्व
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता कर्मभव स्वकीया
यस्यास्ति नैक्य वपुषापि सार्द्ध , तस्यास्ति किं पुत्र कलत्र
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरम
सयोगतो दु खमनेकभेद, यतोऽश्नुते जन्मवने श
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्नीनाम्
सर्वं निराकृत्य विकल्पजाल, ससारकान्तारनिपात
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्व परमात्मतत्त्वे ।
स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशु
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरथक ८।
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति
विचारयन्नेवमनन्यमानस , परो ददातीति विमुच्य शेमुषी
यै परमात्माऽमितगतिवन्द्य , सर्वविविक्तो भृशम
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते, मुक्तिनिकेत विभववर ते ।

(अनुष्टप)

इति द्वात्रिंशतिवृत्त , परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥